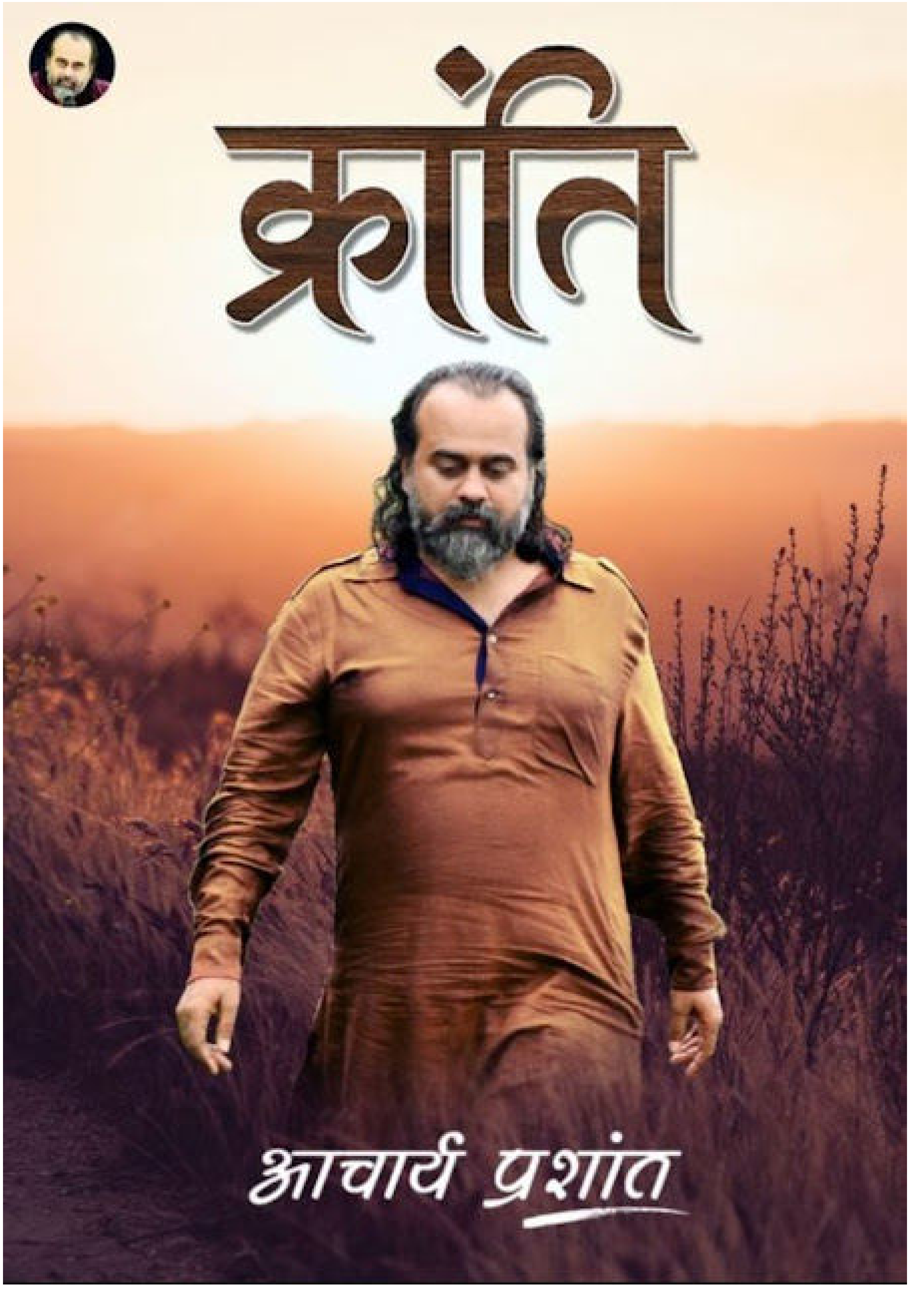


क्रांति

आचार्य प्रशांत

अनुक्रमणिका

1. क्रान्तिकारी भगत सिंह, और आज के युवा
2. मार्क्स, पेरियार, भगत सिंह की नास्तिकता
3. महापुरुषों जैसा होना है?
4. सब महापुरुष कभी तुम्हारी तरह साधारण ही थे
5. ग़ुलामी चुभ ही नहीं रही, तो आज़ादी लेकर क्या करोगे?
6. हमारे छ: दुश्मन
7. आज दुश्मन छुपा हुआ है
8. रिवॉल्वर बचाकर रखो, असली दुश्मन दूसरा है
9. तुम्हारा दुश्मन तुम्हारे भीतर बैठ शासन कर रहा है
10. कैद में हो, जूझ जाओ!
11. ख़ुद जग जाओ, नहीं तो ज़िंदगी पीट कर जगाएगी
12. उठो, अपनी हालत के ख़िलाफ़ विद्रोह करो!
13. अपनी हैसियत जितनी ही चुनौती मिलती है सबको
14. भूखे मर जाना, गुलामी की रोटी मत खाना
15. छोटी बातों में उलझे रहोगे तो बड़ा काम कब करोगे?
16. उसके लिए प्राण भी जाए, तो कोई बात नहीं
17. क्रांति है अपना साक्षात्कार, महाक्रांति अपना सहज स्वीकार
18. सुरक्षा नहीं मकान में, लड़की रहो उड़ान में
19. हम ऐसे बदलेंगे नौकरशाही, राजनीति और देश को
20. आज का युद्ध, आज का कुरुक्षेत्र, और आज का धर्म

✿ ✿ ✿ ✿

क्रान्तिकारी भगत सिंह, और आज के युवा

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, कल तेईस मार्च भारत में शहीदी दिवस के रूप में मनाया जाता है। भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु, इनको फाँसी इस दिन मिली थी। तब भगत सिंह मात्र तेईस वर्ष के थे। तो युवाओं को इनसे क्या प्रेरणा लेनी चाहिए अपने जीवन में? आप कृपया मार्गदर्शन करें।

आचार्य प्रशांत: अब यहाँ जितने लोग बैठे हैं, उसमें से कम-से-कम आधे तो हैं हीं युवा-वर्ग से। तो ये जो प्रश्नों का, सवालों का, समस्याओं का गठ्ठर मेरे सामने आया है, इसमें से भी आधी या आधी से ज़्यादा समस्याएँ युवाओं की ही हैं। और युवा माने क्या? बीस से पैंतीस, या बहुत विस्तृत करके बोलोगे तो पंद्रह से चालीस। आदमी की कुल उम्र का एक बहुत छोटा-सा अंश—तीसरा हिस्सा, चौथा हिस्सा, पाँचवा हिस्सा। तो युवावस्था में समय बिताते हो अपनी कुल उम्र का एक चौथाई या उससे भी कम, लेकिन समस्याएँ आ रही हैं आधी।

देख रहे हो, हो क्या रहा है?

जो समय जीवन का शक्तिकाल, स्वर्णकाल होना चाहिए था, उसी समय में सबसे ज़्यादा समस्याओं से घिरे हुए हो, बतौर एक युवा। क्यों घिरे हुए हो? कारण सीधा है। जहाँ जितनी ज़्यादा संभावना है, वहाँ उतना ही अधिक खतरा भी होगा ही होगा। आकाश की सम्भावना कभी पाताल के खतरे के बिना नहीं आती। शक्ति मिली है, यौवन मिला है, समय मिला है, तो उसी के साथ-साथ ये अभिशाप भी मिला है कि अगर सही तरीके से नहीं बिताओगे उस समय को तो बहुत दुःख पाओगे, बहुत मार खाओगे, बहुत ज़्यादा समस्याओं से ग्रस्त रहोगे।

जब जवान होते हो तब सबसे ज़्यादा आकर्षण घेरते हैं तुम्हें, हर तरीके के। अहम् की तो मूल भावना होती ही यही है कि संसार भोग के लिए है। “मैं अतृप्त हूँ, और संसार को भोगकर मुझे तृप्ति मिल जाएगी,” यही नाम है अहम् का। ठीक? ये धारणा वो रखता जन्म के प्रथम-पल से आखिरी-पल तक है: “अधूरा हूँ मैं, और दुनिया में कुछ खोजूँगा, कुछ पाऊँगा तो पूरा हो जाऊँगा"। लेकिन दुनिया में खोज पाने की शक्ति और दुनिया को भोग पाने की शक्ति सबसे ज़्यादा होती है युवावस्था में। तो इसीलिए भोग की लालसा भी सबसे ज़्यादा युवावस्था में ही होती है। सारा ध्यान, सारा समय, सारी ऊर्जा बह निकलती है संसार की ओर–“दुनिया में ये पा लूँ,” "ये कमा लूँ," "ये हाँसिल कर लूँ”।

किसके लिए? अपनी उस अतृप्ति के लिए जो वास्तव में किसी भी उपलब्धि से मिटने वाली नहीं है।

कायर ही नहीं होते सब, मेहनत भी खूब की जाती है। तमाम तरह के संगठन, तमाम कंपनियाँ युवाओं को ही चुनती हैं काम कराने के लिए, मेहनत के लिए, उत्तरदायित्व देने के लिए। क्योंकि पता है कि मेहनत तो सबसे ज़्यादा कोई युवा ही करेगा। तो मेहनत खूब की जाती है लेकिन अपनी अंधी तृष्णा को शांत-भर करने के लिए। नतीजा? ढाक के तीन पात! न सिर्फ तड़प बाकी रह जाती है बल्कि तड़प सारी मेहनत के बाद भी बाकी रह जाती है। क्योंकि जो कर रहे हो गलत दिशा में, गलत उद्देश्य के लिए कर रहे हो। करोगे खूब, पाओगे कुछ नहीं। ये है कहानी जवानी की। खूब दौड़े-धूपे, खूब अरमान सजाए, सपने लिए, मेहनत कर-करके घरोंदे बनाए; सत्यता उसमें कुछ नहीं, पाया कुछ नहीं, स्थायित्व कुछ नहीं, नित्यता कुछ नहीं। क्योंकि जो किया, उसके लिए किया जो कभी तृप्त हो ही नहीं सकता—कितना भी तुम उसको भरते रहो, खिलाते रहो।

फिर कुछ होते हैं भगत सिंह जैसे जो कहते हैं कि जब श्रम करना ही है, जब कुछ बड़ा करना ही है, तो उसके लिए करें न जिसके लिए करने में सार्थकता है। किसके लिए करने में सार्थकता है? ये हटाओ अभी! ये तो पक्का है कि अपने छोटे, निजी, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कुछ करने से कभी भीतर की तड़प शांत नहीं होती है, कितनी भी उपलब्धि खड़ी कर लो। तो समझदार होते हैं वो जो अपने प्रयत्नों को किसी ऊँचे उद्देश्य के लिए लगाते हैं। अपनी छोटी सत्ता से ज़्यादा बड़े, ज़्यादा विराट, किसी मिशन की सेवा में लगाते हैं।

व्यक्तिगत मुक्ति संभव नहीं है। व्यक्तित्व ही बंधन है, तो फिर व्यक्तिगत मुक्ति कैसी? मुक्ति सबको चाहिए लेकिन जो अज्ञानी है वो सोचता है कि अकेले-अकेले मुझे मिल जाएगी—पहली बात, पहली भूल। और दूसरी बात, अपने लिए धन, प्रतिष्ठा, सम्बन्ध, भोग इत्यादि इकट्ठा करके मुक्ति मिल जाएगी। दोनों तरह से भ्रम में है वो। पहली बात तो सोच रहा है कि अकेले-अकेले मुक्त हो जाएगा और दूसरी बात सोच रहा है कि रूपए-पैसे से या प्रतिष्ठा से या सुख इकट्ठा करके मुक्त हो जाएगा। दोनों तरीके से वो भ्रम में है।

तो मैंने कहा कि समझदार हैं वो जो कहते हैं कि—"मुक्ति तो हमें चाहिए, पर हम गंभीर हैं मुक्ति के बारे में इसीलिए हम ये समझते हैं कि मुक्ति मिलेगी तो सबको मिलेगी, नहीं तो किसी को नहीं मिलेगी"। तो आम आदमी लगा रहता है अपनी निजी तृप्ति के लिए, और तृप्ति और मुक्ति एक ही बात है। ये सबसे क्षुद्र, सबसे संकीर्ण अवस्था है अहम् की, कि बस अपनी मुक्ति की कोशिश करेंगे।

जिसका अहम् थोड़ा विस्तार पाता है, वो कहता है, "अपने परिवार के लिए कुछ कर लूँगा"। इसको इतना तो समझ में आया है कि अकेले-अकेले नहीं होगा, दो-चार और साथ हैं, उनका भी हाथ पकड़ना पड़ेगा। स्वयं को अगर मुक्ति दिलानी है तो उनको भी दिलानी पड़ेगी। ये ज़रा-सा आगे बढ़ा, एक कदम। फिर अहम् अगर थोड़ा और बोधवान होता है, थोड़ी उसकी समझ और गहराती है, तो वो कहता है, "परिवार-भर से भी नहीं होगा, समुदाय के

लिए कुछ करना पड़ेगा"। तो फिर वो अपने वर्ग के लिए, अपने समुदाय के लिए, थोड़ी और ज़्यादा बड़ी किसी सत्ता के लिए काम करता है।

फिर आप समझ ही रहे होंगे कि जिसका अहम् और विस्तार पाएगा—और अहम् के विस्तार में ही अहम् की मुक्ति है। जिसको आप अहम्-शून्यता कहते हैं, वो दूसरे शब्दों में अहम् का अनंत विस्तार ही है। तो जिसका अहम् थोड़ा और विस्तार पाएगा, वो फिर कहेगा कि, "अपने समुदाय, अपने वर्ग, अपने पंथ, या अपने धर्म, या अपनी जाति-भर के लोगों के लिए काम करके भी बात नहीं बनेगी, और विस्तृत होना पड़ेगा"। तो फिर वो देश के लिए काम करता है।

ये बड़ा मुश्किल होता है कि तुम अपने-आपको भुला दो, अपने परिवार को भुला दो, अपने गाँव, शहर, मोहल्ले, अपने धर्म, अपने पंथ को भुला दो और तुम कहो कि, "मैं करोड़ो लोगों की खातिर काम कर रहा हूँ। मेरा अहम् अब इतना विस्तृत हो गया है कि करोड़ो को अब वो अपने साथ लिए है, करोड़ो को स्वयं में समेटे हुए है"।

और फिर और आगे जाती है जिनकी चेतना, और दीर्घता पाता है जिनका अहम्, वो फिर सम्पूर्ण मानवता के लिए काम करता है। और आगे बढ़ाइए, समझ जाएँगे कि फिर मानवता से आगे भी जाया जा सकता है। व्यक्ति जीवों की, जंतुओं की, कीटों की, पतंगों की, पशुओं की, पक्षियों की, सबकी मुक्ति का ख्याल करने लगेगा। ये अहम् की और ज़्यादा विस्तृत अवस्था है। यही विस्तार ब्रह्मता कहलाता है।

वैश्विक हो जाती है चेतना, तब आपका तादात्म्य पूरे विश्व के साथ हो जाता है। और विश्व से भी आगे जब चली जाती है चेतना तो आपका तादात्म्य फिर ब्रह्म के साथ ही हो जाता है। ब्रह्म का अर्थ है—अनंत विस्तार। और फिर आप अधिकारी हो जाते हो कहने के कि, “अहम् ब्रह्मास्मि”। ब्रह्मास्मि कह दिया माने अब आपकी व्यक्तिगत सत्ता बिल्कुल मिट गई। जो कुछ है और जो कुछ नहीं है, सबके साथ आप एकाकार हो गये, तादात्म्य हो गया आपका।

अब समझोगे कि भगत सिंह ने पूरे देश की आज़ादी के लिए संघर्ष क्यों किया। क्योंकि अकेले-अकेले आज़ादी तो वैसे भी नहीं मिलने की। ये वास्तव में कोई सामाजिक या राजनैतिक पहल नहीं थी। ये किसी बर्बर, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश या क्रांति मात्र नहीं था। मूलतः ये आध्यात्मिक मुक्ति का अभियान था। एक ऐसी मुक्ति जिसमें तुम कहते हो - "मेरे शरीर की बहुत कीमत नहीं है। बाईस-तेईस साल का हूँ, फाँसी चढ़ जाऊँ, क्या फर्क पड़ता है? शरीर के साथ मेरा तादात्म्य वैसे भी नहीं है। मैंने तो अब पहचान बना ली है बहुत बड़ी सत्ता के साथ।" भगत सिंह के जीवन में वो बहुत बड़ी सत्ता थी - भारत देश।

समझ में आ रही है बात?

इसलिए मिलती है जवानी। इसलिए नहीं कि शरीर को ही खुराक देते जाओ और शरीर की माँगों को मानते जाओ और कामनाओं को पोषण देते जाओ। जवानी मिलती है ताकि उसका उत्सर्ग हो सके, ताकि वो न्योछावर हो सके। जिस उम्र में हम अपने-आपको, बहुत लोग, दुधमुँहा बच्चा ही समझते हैं, उस उम्र में वो चढ़ गए फाँसी पर।

और ये कोई किशोरावस्था का साधारण उद्वेग नहीं था। भगत सिंह का ज्ञान गहरा था। दुनियाभर के तमाम साहित्य का अध्ययन किया था उन्होंने, खासतौर पर समकालीन क्रांतिकारी साहित्य का। समाजवाद, साम्यवाद—इनकी तरफ झुकाव था उनका। खूब जानते थे, समझते थे। किसी बहके हुए युवा की नारेबाज़ी नहीं थी भगत सिंह की क्रांति में; गहरा बोध था। और वो बोध, मैं कह रहा हूँ, मूलतः आध्यात्मिक ही था।

अन्यथा जीव में देहाभिमान इतना गहरा होता है कि यूँ ही कोई शरीर नहीं त्याग सकता। जब कोई आम युवा जीवन की चकाचौंध और रंगीनियों के ख़्वाब देखता है, उस समय भगत सिंह अपने जीवन की निजी माँगों से बहुत दूर, बहुत आगे जा चुके थे। तेईस साल, पच्चीस साल, सत्ताईस साल का आम-नौजवान देखता है कि किस तरीके से घर बसा लूँ, कोई स्त्री मिल जाए। और भगत सिंह से, कहते हैं, एक दफ़े उनकी माता जी ने विवाह का प्रसंग छेड़ा कि, "बेटा, शादी?" तो भगत सिंह बोले, "हो चुकी। शादी हो चुकी। आज़ादी दुल्हन है मेरी। उसी के साथ हो गया अब गठबंधन। अब किसी स्त्री वगैरह के लिए कहाँ जगह है?"

ये क्या है? ये आध्यात्मिक समर्पण है मुक्ति के प्रति, कि और कुछ मायने नहीं रखता; न देह कीमत रखती है, न सामाजिक परंपरा कीमत रखती है, न मन की कामनाएँ कीमत रखती हैं; मुक्ति मात्र कीमत रखती है, उसी को समर्पित हो चुके हैं, उसी से मिलन हो चुका है।

यही योग है।

जवान हो, तो जीने का एक ही तरीका है: किसी बहुत-बहुत ऊँचे लक्ष्य को, उद्देश्य को, मिशन को समर्पित हो जाओ। नहीं तो जवानी माने फिर यही — समस्याएँ-समस्याएँ, उलझाव, समय की बर्बादी, मन का गंदा रहना, लफड़े-झगड़े, अतृप्तियाँ, वासनाएँ, और फिर निराशाएँ।

ऐसे न जीना हो, तो फिर उनकी ओर देखो, सादर देखो, सप्रेम देखो, जिन्होंने अपने से आगे के किसी काम के लिए अपने-आपको आहुति बना दिया। और तरीका कोई नहीं जीने का।

प्र: आचार्य जी, जो भगत सिंह थे, उनमें और हम में जो भेद है वो ये है कि उनके पास वो शक्ति थी कि इतने सारे डिसट्रैकशनस (विकर्षण) होते हुए भी वो सही दिशा में चलते रहे। हमारे जीवन में जो माया आती है, वो समझ भी

आती है, पर हम उसके सामने झुक जाते हैं। वो नहीं झुके हैं। तो पहले से ही एक इतना बड़ा डिफरेंस (भेद) था ही।

वो स्ट्रेंथ (ताकत) मुझे तो खुद में दिखाई नहीं देती। जब आती है माया समझ, उसके सामने हार भी मान रहे हैं, ये भी समझ आ जाता है, और उसके बाद का पछतावा भी समझ आ जाता है। और कभी-कभी माया के प्रभाव से बच भी जाते हैं। जब बच जाते हैं तो अच्छा भी लगता है। बहुत एम्पोवेरिंग (सामर्थ्यवान) सा लगता है, स्ट्रेंथ (ताकत) आती है। लेकिन जब उसके सामने हार जाते हैं, उस बात का पछतावा, वो भी समझ में आता है। और ऐसा लगता है कि ये चलता ही चला जा रहा।

आचार्य: ताकत नहीं चाहिए, चुनाव चाहिए। अंतर को गौर से समझो।

ताकत चाहिए होती है कार्य में सफलता के लिए। तुम कहो, “ताकत नहीं थी, इसीलिए असफल हो गये,” तो तुम्हारी बात जायज़ होगी। ताक़त तब चाहिए जब तुम्हारा लक्ष्य हो सफलता। चुनाव चाहिए । चुनाव तो कर ही सकते हो न सही काम करने का? ताक़त नहीं होगी तो अधिक-से-अधिक क्या होगा? असफल हो जाओगे! पर चुनाव तो कर ही सकते हो।

भगत सिंह भी, अगर तुम देखो, तो देश को आज़ादी दिलाने के लक्ष्य में सफल कहाँ रहे? हुआ क्या? एक छोटी-सी उम्र में ही शारीरिक जीवन तो ख़त्म ही हो गया उनका। ताकत बहुत कहाँ थी? ताकत तो अंग्रेज़ों के पास थी। ताक़त न होते हुए भी उन्होंने सही चुनाव किया। सही चुनाव किया, बिना ये चिंता करे कि नतीजा क्या होगा। ताक़त की माँग तो तुम तब करते हो जब तुम नतीजे को लेकर के बहुत शंकित रहते हो। तब तुम कहते हो कि, “अभी इतनी ताकत नहीं है कि इस कार्य में प्रवेश कर सकूँ,” यही कहते हो न? तुम कहते हो, “काम बहुत बड़ा है और अभी मुझमें ताक़त नहीं है कि मैं उस काम में प्रवेश कर सकूँ"।

ऐसा तुम कहते हो क्योंकि तुम प्रवेश करने के ऊपर एक शर्त बाँध देते हो। कहते हो, “हम काम में प्रवेश ही तब ही करेंगे जब सफलता की आश्वस्ति हो जाए। जब दिखाई देने लगे कि सफलता की संभावना अच्छी है, कोई आश्वस्त कर दे, कुछ गारंटी मिल जाए, तो हम काम में प्रवेश करेंगे"। फिर तुम ताक़त माँगते हो। जैसे कि कोई कहे कि, “अब बाज़ार क्या जाएँ, जेब में पैसे नहीं हैं!” क्योंकि तुम चाह रहे हो कि तुम जाओ तो तुम खरीद ही पाओ। तुम सिर्फ जाना नहीं चाहते, तुम वहाँ जाकर के सफलता भी चाहते हो। इसलिए तुम ताक़त की माँग करते हो। कहते हो, “जब जेब में ताक़त होगी तब काम शुरू करेंगे!”

वास्तव में काम शुरू करने के लिए तो कोई ताक़त नहीं चाहिए। काम शुरू करने के लिए सिर्फ चुनाव चाहिए। ताक़त क्या थी भगत सिंह के पास, कि राजगुरु के पास, कि किसी क्रान्तिकारी के पास? ताक़त क्या थी वर्धमान महावीर के पास, या सिद्धार्थ गौतम के पास, या जीसस के पास? ताक़त क्या थी किसी विवेकानंद के पास?

हाँ, एक इमानदारी थी कि चुनाव तो सत्य का ही करूँगा, नतीजा चाहे जो हो। मेरे बस में इतना ही है कि मैं सही चुनाव करूँ। सही चुनाव करने के बाद मिशन को आगे बढ़ाने की, लक्ष्य को पूरा करने की ताक़त सत्य ही देगा। मैं सत्य का चुनाव करूँगा, मेरे बस में इतना ही है। और एक बार मैंने सत्य का चुनाव कर लिया तो आगे की सत्य जाने। हमने राम को चुन लिया, आगे की राम जाने। ताक़त भी वहीं से आएगी। उसे देनी होगी ताक़त तो दे देगा, और नहीं देनी होगी ताक़त तो न दे, काम तो उसी का है। हमने तो अपना काम कर दिया। हमारा क्या काम था? सही चुनाव करना।

पर तुम सही चुनाव नहीं करते क्योंकि तुम डरे हुए हो। तुम डरे हुए भी हो और तुम कामनाग्रस्त भी हो। तुम कहते हो कि, "हम सही चुनाव भी तब ही करेंगे जब पहले कोई लिखित में दे दे कि सफलता मिलेगी ही मिलेगी"। या कि, "पहले हम आश्वस्त हो जाएँ कि हमारे पास इतना धन, इतने संसाधन, इतनी ताक़त है कि हमें सफलता निश्चित हो जाए"।

अब काम जितना बड़ा होगा, उसके लिए ताक़त उतनी ज़्यादा चाहिए, तुम्हारी गणना के अनुसार? काम जितना बड़ा होगा, उसके लिए ताक़त उतनी ज़्यादा चाहिए। और वो ताक़त तुम्हारे पास होगी नहीं क्योंकि बहुत सारी ताक़त चाहिए। उतनी तो होगी नहीं। तो ले देकर तुरंत नतीजा एक ही निकलेगा, क्या? कि तुम किसी बड़े काम में हाथ डालोगे ही नहीं। क्योंकि काम अगर बड़ा है तो तुम्हें साफ़ दिखाई देगा कि इसमें तो बहुत श्रम, बहुत समय, बहुत धैर्य लगना है। बहुत संसाधन लगने हैं। और तुम कहोगे कि, "इतने तो मेरे पास है नहीं! इतने मेरे पास है नहीं, बढ़िया हुआ! बड़े काम को करने के झंझट से ही छूटे!” और फिर तुम्हारी सज़ा ये होगी कि तुम्हें वही काम मिल जाएगा जो काम करने की तुम में ताक़त है। और ताक़त तुम में है कितनी? छोटी-सी। तो इस ताक़त को आधार बनाकर तुम काम भी क्या चुन लोगे? छोटा-सा। और ज़िंदगी भर किसी छोटे काम में ही लिप्त रहोगे। ऐसे नहीं चलते!

पहले ताक़त नहीं आती, पहले आता है चुनाव। सही चुनाव कर लो, उसके बाद ताक़त जहाँ से आनी होगी, आएगी। ताक़त इकट्ठा करने के फेर में मत पड़े रह जाना कि अभी गिन रहे हैं कि ताक़त आ जाए, ताक़त आ जाए, फिर काम शुरू करेंगे। बहुत लोग होते हैं ऐसे, और वो आकर के यही याचना करते हैं, यही बहाना देते हैं। कहते हैं कि, “काम नहीं हो रहा, ताक़त नहीं है!” न, न! काम इसलिए नहीं हो रहा क्योंकि तुम ताक़त को आधार बना रहे हो। जैसे ही तुमने ताक़त की परवाह करनी छोड़ी, और अपने-आपको समूचा झोंक दिया, वैसे ही तुम्हें तुमसे आगे की कोई बहुत बड़ी ताक़त उपलब्ध हो जाती है।

जब तक तुम चुनाव ही करोगे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं के पक्ष में, तब तक उन व्यक्तिगत इच्छाओं को पूरा करने के लिए तुम्हें ताक़त भी व्यक्तिगत जितनी ही उपलब्ध होगी। और तुम्हारी व्यक्तिगत ताक़त है बहुत अल्प। अगर

इच्छा व्यक्तिगत है, तो उसे पूरी करने के लिए ताक़त भी तुम्हें मिलेगी व्यक्तिगत जितनी ही। और तुम्हारी व्यक्तिगत ताक़त बहुत छोटी है। लेकिन अगर तुमने लक्ष्य व्यक्तिगत से कहीं आगे का बनाया है, तो उसे पूरा करने के लिए ताक़त भी कहीं आगे से आ जाती है, उतर आती है। कह लो कि अनुकम्पा होती है। चाहो तो मान लो कि जादू होता है।

बड़े लक्ष्य को लेकर गणना नहीं की जाती। बड़े लक्ष्य के सामने बस समर्पित हो जाते हैं, अपने-आपको झोंक देते हैं, कहते है, "अब जो होगा देखा जाएगा!" पहले से ही हिसाब-किताब लगाओगे, तो जीवन-भर हिसाब-किताब लगाते रह जाना, करोड़ों लोग यही करते हैं। उनसे पूछो कि, "ये सब तुम्हारा दुकान-दफ्तर, ये तो चलता ही रह गया, कुछ अलग, कुछ ऊँचा कब करोगे?" तो कहेंगे, "बस अब तीन साल और रुक जाओ। तीन साल में कुछ संसाधन जोड़ लें, कुछ ज़िम्मेदारियाँ निपटा दें, उसके बाद शुरू करेंगे।" ये वही लोग हैं जो ताक़त की गणना कर रहे हैं, संसाधनों को, और व्यक्तिगत सामर्थ्य को आधार बना रहे हैं।

तुम्हारी व्यक्तिगत सामर्थ्य आधार नहीं हो सकती, क्योंकि व्यक्तिगत सामर्थ्य है ही (हाथ से छोटे का इशारा करते हुए) इतनी सी। आधार सामर्थ्य नहीं, समर्पण है। बहुत सामर्थ्य होगा, तो भी किसी काम का नहीं। असली चीज़ है समर्पण। सही चुनाव करो, ताक़त का देखा जाएगा।

बुरे-से-बुरा क्या होगा? फाँसी लग जाएगी, ठीक है! क्या हो जाएगा बुरे-से-बुरा? ताक़त नहीं थी तो सूली चढ़ गये, ठीक है।

प्र: भगत सिंह के जीवन में जो क्रान्ति घटी, और कबीर साहब के जीवन में जो क्रान्ति घटी, बुल्ले शाह के, रूमी के जीवन में, इन सब क्रांतियों में कोई भेद नहीं है? ये सब एक ही हैं? क्योंकि ऊपर से देखने में सबकी विचारधारा अलग थी।

आचार्य: एक ही हैं।

प्र: भगत सिंह भौतिकवादी थे।

आचार्य: सब एक हैं। मुक्ति कोई भौतिक चीज़ होती है? भगत सिंह अगर पदार्थवादी होते तो किसी पदार्थ के पीछे भागते न। आज़ादी थोड़े ही पदार्थ है। ये किसने पढ़ा दिया कि भगत सिंह तो मटीरीअलिस्ट (पदार्थवादी) थे? भगत सिंह किसी ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे, इसका मतलब ये नहीं हो गया कि पदार्थवादी थे।

इश्वर में तो मैं भी नहीं विश्वास नहीं रखता, तो?

प्र: पर वो जिनको मानते थे, उन्होंने डायलेकटिकल मटीरीअलिस्म (द्वंदात्मक भौतिकवाद) को परिभाषित किया है।

आचार्य: बिल्कुल मान सकते हैं कि डायलेकटिकल मटीरीअलिस्म (द्वंदात्मक भौतिकवाद) है। पर कहाँ? मटेरियल वर्ल्ड (भौतिक जगत) में है। मटेरियल वर्ल्ड (भौतिक जगत) में जो भी घटना घट रही है उसकी डायलेकटिक्स तुमको बता दीं। ऐसे होता है, ऐसे होता है, फिर ऐसे होता है, थीसिस होती है, एंटी-थीसिस है, फिर उससे कुछ और आगे निकल आता है, उसको बोल देते हो सिंथेसिस। तो ठीक है। ये सब कहाँ हो रहा है? दुनिया में हो रहा है न? तो दुनिया में ठीक है। दुनिया में इस तरह का सिद्धांत दिया जा सकता है कि दुनिया में जो घटनाएँ घट रही हैं वो इस प्रकार घट रही हैं।

मार्क्स ने ये सिद्धांत दिया, और भगत सिंह ने मान लिया। ठीक है। कोई बुराई नहीं है। पर इस सिद्धांत का क्षेत्र क्या है? इस सिद्धांत की पूरी उपयोगिता, एप्लीकेबिलिटी कहाँ है? दुनिया में ही है न? और भगत सिंह जिसको तलाश रहे थे, उसका क्या नाम था? आज़ादी! बताओ दुनिया में कहाँ है वो? और भगत सिंह जिस आज़ादी की बात कर रहे थे वो मात्र राजनैतिक आज़ादी ही नहीं थी, कि एक झंडा हटाकर दूसरा झंडा लगा दिया। गहरी आज़ादी की माँग कर रहे थे। वो कोई पदार्थ नहीं होती।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2019)

मार्क्स, पेरियार, भगत सिंह की नास्तिकता

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आपने कहा कि आज के जितने भी लिबरल (उदार) चिंतक इत्यादि हैं, वे कोई भी पराभौतिक हस्ती को पूर्णता नकार देते हैं, और कहते हैं कि, "जो भी है, वह यहीं आँखों के सामने है"। भगत सिंह ने भी कहा

कि दुनिया में ईश्वर नाम की कोई चीज़ नहीं है, पेरियार ने भी ऐसा ही कहा, मार्क्स ने भी इसी तरफ इशारा किया। तो क्या आप आज के उदार चिंतकों को, और भगत सिंह, पेरियार और मार्क्स को एक ही तल पर रख कर तुलना कर रहे हैं?

आचार्य प्रशांत: अगर कुछ नहीं है पराभौतिक, तो जो है, वह सिर्फ भौतिक है, ठीक? फिर तो मूल्य अगर किसी चीज़ का है, तो बस भौतिकता का है। भौतिकता माने पार्थिवता, शारीरिकता, ठीक? अगर पराभौतिक कुछ नहीं है, तो एक ही चीज़ कीमती बची न, क्या? ये शरीर। और अगर सिर्फ शरीर ही कीमती है, तो भगत सिंह ने शरीर का त्याग करना क्यों स्वीकार किया?

समझ में नहीं आ रहा क्या कि जब भगत सिंह कहते थे कि वो नास्तिक हैं, तो वो वास्तव में परंपरागत धर्म, सड़े-गले धर्म, संस्थागत धर्म को नकार रहे थे। नहीं तो एक ऊँचे आदर्श के लिए, शरीर की आहुति दे देने से बड़ा धार्मिक काम क्या होगा? अगर कोई नौजवान सच्चे अर्थों में धार्मिक हुआ है, तो वह तो भगत सिंह स्वयं हैं।

मुझे बताओ, तुम अपना प्राणोत्सर्ग कर रहे हो, तुमने तो पूरी भौतिकता ही खो दी न अपनी! अगर जान चली गई, तो ज़रा भी भौतिकता बची? तो कुछ तो होगा न जो भौतिकता से ऊँचा होगा, जिसके लिए तुम अपनी भौतिकता न्योछावर कर रहे हो? माने तुम मान रहे हो न कि इस भौतिक शरीर से कुछ ऊँचा होता है? भगत सिंह ने उस ऊँचे लक्ष्य को नाम दिया था – 'आज़ादी'। फर्क नहीं पड़ता तुम क्या नाम दे रहे हो, इतना मानना काफी है कि तुम्हारी शारीरिक सत्ता से ज़्यादा कीमत किसी और चीज़ की है।

भगत सिंह का जीवन ही इस बात का प्रमाण है। बाईस-तेईस साल में वो कह रहे हैं, "नहीं चाहिए बाकी पूरी ज़िंदगी"। अभी वह साठ-सत्तर साल और जीते, बोले, "नहीं जीना है! शरीर की हैसियत क्या है?” ये तो संतो वाली बात हो गई न बिल्कुल। "नहीं जीना! शरीर की हैसियत क्या है? आज़ादी बड़ी चीज़ है! आज़ादी चाहिए!" अगर वो, दोहरा रहा हूँ, शारीरिकता मात्र में विश्वास रखते, तो जान देने को क्यों राज़ी हो जाते? शरीर गँवाने को क्यों राज़ी हो जाते, अगर शरीर ही अंतिम सत्य होता उनका, बोलो? आ रही है बात समझ में?

लेकिन फिर भी, चाहे मार्क्स हों, पेरियार हों, भगत सिंह हों, कई अन्य विचारक हों, इन सब लोगों ने धर्म को न सिर्फ नकारा बल्कि धर्म को अपशब्द भी कहे। मैं उनसे सहानुभूति रखता हूँ। उन्होंने जिस धर्म को नकारा, वो था ही इस लायक कि उसे लात मार दी जाए। जो उन्होंने करा, मैं भी वही करना चाहूँगा। पर भूलिए नहीं, कि वो किस धर्म को नकार रहे थे। मार्क्स उस धर्म को नकार रहे थे, जिसके बारे में कहते थे कि ये नशा है, अफीम है। जो धर्म नशा बन जाए, अफीम बन जाए, उसको तो तुरंत त्याग ही देना चाहिए। अभी थोड़ी देर पहले हम लोग क्या बात कर रहे थे? कि धर्म के नाम पर क्या-क्या चल रहा है। अगर वो सब जो धर्म के नाम पर चल रहा है, वो धर्म है, तो मैं भी कह रहा हूँ, "लात मारो धर्म को!” पर धर्म उसके अतिरिक्त भी कुछ है, बहुत कुछ है, बहुत मूल्यवान है। उसका सम्मान

करना सीखिए।

समझ में आ रही है बात?

अंग्रेज़ी में एक मुहावरा है: *डोंट थ्रो द बेबी आउट विद बाथ वाटर*। सिर्फ इसलिए कि धर्म में कुरीतियाँ आ गयी हैं, सिर्फ इसलिए कि धर्म का पूरा क्षेत्र बेवकूफ और बेईमान लोगों ने गंदा कर दिया है, तुम क्या धर्म को ही उठाकर बाहर फेंक दोगे? और धर्म को उठाकर बाहर फेंक दिया तुमने, तो जियोगे कैसे? बिना प्रेम के, बिना करुणा के, बिना बोध के, बिना सरलता के जी कैसे लोगे? और प्रेम, बोध, करुणा, सरलता—तुम्हें विज्ञान तो सिखाएगा नहीं! तो धर्म तो ज़रूरी है न।

धर्म गंदा हो गया हो, तो प्रार्थना है मेरी कि उसको साफ करें। ये थोड़े ही है कि हीरा गंदा हो गया है, उसपर बहुत तहें जम गई हैं कचरे की, मिट्टी की, तो तुमने उठाकर के हीरा ही बाहर फेंक दिया। दुश्मनी कचरे से रखो न, हीरे से नहीं भाई!। ये परम मूर्खता हो गयी। एक तो मूर्ख लोग वो थे जिन्होंने हीरे को गंदा होने दिया, और एक मूर्ख ये हैं, जिन्होंने गन्दगी के साथ-साथ हीरा ही फेंक मारा बाहर।

ये मत करो! पहले वाली गलती से ज़्यादा बड़ी गलती ये हो जाएगी। जिन्होंने हीरे को मलिन किया, गंदा किया, वो एक तल के गुनाहगार हैं, और तुम उस गंदगी के चलते हीरा ही उठाकर फेंक दो, तुम उनसे ज़्यादा बड़े गुनाहगार हो जाओगे। ये मत होने दो। सफाई करो! सफाई!

आदमी को, धर्म को, हमेशा सफाई की ज़रूरत पड़ती रही है; रिफॉर्म्स (सुधार) आवश्यक रहे हैं। क्रांतियाँ और सुधार हमें चाहिए होते हैं। बुद्ध और महावीर क्या कर रहे थे? वैदिक धर्म का पुनरुद्धार ही तो कर रहे थे। जगा ही तो रहे थे। हाँ, कालांतर में वो जो शाखाएँ थीं वैदिक धर्म की, वो अलग पंथ, अलग परम्पराएँ ही बन गयीं, वो अलग चीज़ है—वरना वो तो सुधार ही कर रहे थे। उन्होंने कहा, "उपनिषदों की जो वाणी है, वो लालची, लोभी कुछ पंडितों ने बड़ी खराब कर दी। अब वो वेदों का हवाला देकर के अपने न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति कर रहे हैं ब्राह्मण लोग"। उन्होंने कहा, "नहीं, देखो सुधार करना पड़ेगा"। जो लोग गड़बड़ कर रहे थे, बुद्ध-महावीर उनके खिलाफ़ थे न। उपनिषदों के खिलाफ़ थोड़े ही थे बुद्ध! बुद्ध की जो बात है, वो उपनिषदों की बात के विरुद्ध क्या, शत-प्रतिशत मेल खाती है, शब्दों का अंतर है बस।

इसी तरह से और आगे आ जाओ, आचार्य शंकर क्या कर रहे थे? बुद्ध अपने पीछे जो पंथ छोड़ करके गए, हज़ार साल बीतते-बीतते वो भी मलिन और विकृत हो गया। तो फिर जैसे बुद्ध को सफाई करनी पड़ी थी वैदिक धर्म की, वैसे ही फिर आचार्य शंकर को आ करके सफ़ाई करनी पड़ी बौद्ध धर्म की। जो भी बात एक समय पर नई, ताज़ी,

साफ और जीवनदायी होती है, प्राणों से ओत-प्रोत होती है, वो कालांतर में गंदी हो जाती है—क्योंकि सत्य कोई बात तो होता नहीं; सत्य को तुम बात बनाओगे, समय उसको धूमिल कर देगा।

थोड़ा और आगे बढ़ो, उसके बाद बारहवीं शताब्दी से अट्ठाहरवीं शताब्दी तक जो पूरा भक्ति कार्यक्रम चला, वो और क्या था? अधिकांश संत जो भक्ति मार्ग से जुड़े हुए हैं, जो अग्रणी रहे उसमें, वो सब तथाकथित पिछड़े वर्ग और निचली जातियों से थे—वो भी एक सुधार कार्यक्रम था। और सुधार कार्यक्रम का सबसे बड़ा उदाहरण, जो सबसे निकट का भी है, वो है सिख पंथ। जब पाया गया कि गंदगी-ही-गंदगी चारों तरफ फैली हुई है, तो नानक साहब से शुरू होकर के एक पूरी श्रृंखला आयी गुरुओं की, जिन्होंने कहा कि जो कुछ साफ है, सुंदर है, उसको ले आओ, उसको संकलित करेंगे। धर्म का एक इनसाइक्लोपीडिया बनाएंगे! उन सब चीज़ों को रखेंगे जो बहुत बढ़िया वाली हैं। वो जिस भी दिशा से मिल रही हैं उनको – रखो! रखो! उनको रख लो! और बाकी सब कुछ नहीं रखेंगे। वो जो ज़बरदस्त धार्मिक कोष बनाया गया, उसका नाम है – आदि ग्रंथ या गुरु ग्रंथ साहिब।

तो ये सब चीज़ें समय-समय पर चाहिए होती हैं। बात समझ रहे हैं? सुधार, सफाई। ये थोड़े ही चाहिए होता है कि तुम धर्म को ही उठाकर कचरे में डाल दो। आज इस तरह की हवा बह रही है कि, "नहीं, नहीं, नहीं! सफाई नहीं करेंगे, धर्म को ही कचरे में डाल देंगे"। सफाई चाहिए, भाई! सफाई करो! और सफाई का हम सब के लिए जो सबसे सुलभ तरीका है, वो ये है कि कम-से-कम अपनी निजी ज़िन्दगी में धर्म के जो विकृत रूप और अर्थ हैं उनको प्रवेश न करने दें, और अगर प्रवेश कर गए हों, तो उनको उठाकर के बाहर फेंक दें।

आ रही है बात समझ में?

प्र: प्रणाम आचार्य जी, आपने बताया भगत सिंह के बारे में कि वो नास्तिक थे लेकिन जैसे ही हम इतिहास में चलते हैं, जितने भी नास्तिक हुए हैं, उनके सारे काम धार्मिकता की दिशा में बड़े सकारात्मक थे, तो नास्तिकता की परिभाषा क्या हो सकती है?

आचार्य: नास्तिकता कौन-सी वाली? असली नास्तिकता या वो नास्तिकता जो भगत सिंह की थी? ये दो अलग-अलग नास्तिकता हैं।

प्र: भगत सिंह की नास्तिकता।

आचार्य: भगत सिंह की नास्तिकता है कि, "मैं नहीं मानूँगा उन सब बातों को जो धर्म के नाम पर प्रचारित हैं"। ये नास्तिकता है। भगत सिंह कह रहे हैं: "ना-अस्ति"। किस चीज़ को कह रहे हैं कि 'नहीं है'? 'ना-अस्ति' माने 'नहीं है'। वो किस चीज़ को कह रहे हैं कि 'नहीं है'? वो कह रहे हैं, "ये जितना जो आडम्बर खड़ा किया गया है – धर्म

और भगवान के नाम पर, वो सच्चा नहीं है; ना-अस्ति! मैं उसके प्रति अस्वीकार रखता हूँ।" ये उनकी नास्तिकता है। ये सच्ची नास्तिकता है।

आज से सात-आठ साल पहले मैंने बोला था, उस पर कोटेशन भी बना दिया, पोस्टर भी चल रहे हैं कि:

धर्म वास्तव में सच्ची नास्तिकता का विज्ञान है।

तुम धार्मिक हो पाओ, इसके लिए बहुत आवश्यक है कि पहले तुम नास्तिक होना सीखो, क्योंकि अगर तुम नास्तिक नहीं हो तो तुम सस्ते आस्तिक हो! सस्ता आस्तिक कौन होता है? कि तुमको बता दिया गया है कि भगवान जी हैं। "हाँ, भगवान जी हैं"। बोलो, "जय"। "जय। हो गया।" ये तुम्हारी सस्ती आस्तिकता है। और ये जो सस्ती आस्तिकता है, इसी ने धर्म का बँटाधार कर रखा है, अध्यात्म का बेड़ा गर्क कर रखा है।

पहले नकली धर्म को नकारना सीखो, पहले नकली धर्म के प्रति नास्तिक होना सीखो। जब नकली धर्म के प्रति नास्तिक हो जाओगे, तो फिर सच्चे अर्थों में धार्मिक हो जाओगे।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2020)

महापुरुषों जैसा होना है?

आचार्य प्रशांत: जिसको भी तुम मानते हो अपने से ऊँचा, जिसको भी सम्मानीय मानते हो, उसकी छवि लगातार आँखों में बसी रहे। और आँखें ऐसी हैं नहीं कि जब तक वो भौतिक रूप से न देखें तब तक उनमें छवि बैठी रहे। तो भौतिक रूप से ही सही, एक तस्वीर लाकर टाँगो। कोई ऐसा जिसके सामने झुकने की तबीयत किया करे। कोई भी ऐसा। वो कोई काल्पनिक पात्र भी हो सकता है, वो किसी उपन्यास का भी पात्र हो सकता है, कोई बात नहीं। पर

कोई ऐसा होना चाहिए न जिसका दर्शन-मात्र तुम में तड़प जगा देता हो, चाहत जगा देता हो, बदल जाने की। और साथ ही साथ तुम्हें शर्म से भर देता हो, अगर बदल नहीं रहे हो।

उसकी छवि आँखों के सामने होनी चाहिए। उसके वचन लगातार कानों में पड़ते रहने चाहिए। उस व्यक्ति को तुम्हारे सामने एक चुनौती की तरह लगातार मौजूद होना चाहिए। चुनौती क्यों है, समझ रहे हैं न? कहाँ पहुँच गए ये, और कहाँ रह गए हम! हाड़-माँस के तो ये भी थे, कि नहीं थे? हमारी ही तरह पैदा हुए थे। हमारी ही तरह अन्न, जल, और वायु का सेवन करते थे। इसी ज़मीन पर चलते थे। वो कैसे, कहाँ निकल गए!

ज़रा अपमान का अनुभव होना चाहिए। अपमानित तो हम छोटी-छोटी बातों पर अनुभव करते ही हैं, कि नहीं? कहीं बैठे और किसी ने पानी को नहीं पूछा, तत्काल बुरा लग जाएगा। "अरे! अपमान हो गया।" बड़ा अपमान क्यों नहीं अनुभव करते?

ये सब जितने बड़े साहब हो गए हैं, इन सबके सामने बड़ा अपमानित अनुभव करना चाहिए। उनका वजूद हमारे मुँह पर तमाचे की तरह है। निरंतर लज्जा बनी रहनी चाहिए। जैसे गाल पर पाँच उंगलियों के निशान अभी ताज़ा-ताज़ा हो तो लाज बनी रहती है न? अभी-अभी पड़ा है कान के नीचे एक बढ़िया वाला। कुछ देर तक तो लाज बनी रहती है न। समझ लो वो कृष्ण का चांटा है। गाल पर कृष्ण की उँगलियों के निशान लगातार मौजूद रहें।

वो कहाँ निकल गए! हम कहाँ रह गए!

और ये मत कह देना कि वो तो अवतार थे, प्रबुद्ध थे, हम तो छोटे लोग हैं। कुछ नहीं। तुम्हारी ही तरह थे। हमारी ही तरह थे, बस उन्हें ऐसा ही रहना मंज़ूर नहीं था। उन्होंने कहा कि जब बेहतर जिया जा सकता है तो बेहतर ही जीते हैं न, मरना तो है ही। ऐसा तो नहीं है कि डर-डर के सिकुड़-सिकुड़ के जीने में अमर हो जाएंगे। जैसे हम जी रहे हैं, सिकुड़े-सिकुड़े, डरे और थमे-थमे, ऐसे जीने से अगर ये लाभ मिलता होता कि अमरता आ जानी है तो चलो ऐसे जी लेते। पर ऐसे जीने से क्या है? मरना तो ऐसे भी है, मरना तो वैसे भी है।

तो हिसाब सीधा है, जाने से पहले ज़रा दम दिखा कर जाएँ।

एक संकुचित, दमित जीवन जी करके मिल क्या जाना है? हम बचा क्या रहे हैं? बच जाएगा? जो हो सकते हो, जो होने के लिए पैदा ही हुए हो, वो हो क्यों नहीं जाते? एक बार स्वाद तो ले करके देखो ऊँचाइयों का, फिर नीचे आने का जी नहीं करेगा। जो ऊँचा जाता है, वो फिर और ऊँचा जाता है, फिर और ऊँचा जाता है, फिर नीचे नहीं गिरता। थोड़ा परवाज़ लो तो। बस अभ्यस्त हो गए हो मिट्टी पर लोटने के, और कोई बात नहीं है।

ठीक है, बहुत सारे हमारे ही तरह हैं, नीचे ही लोट रहे हैं, पर नज़रें उठाओ, परिंदे हैं ऊपर। उनका होना जितनी बड़ी प्रेरणा है, जितना बड़ा प्रोत्साहन है, हमने कहा, उतना ही सनसनाता हुआ थप्पड़ भी है। और दोनों ज़रूरी हैं।

एक साधक था। उसको गुरु की तलाश थी। उसे किसी ने बताया कि गुरु के बिना कोई मुक्ति नहीं होती। "गुरु बिन ज्ञान न होय"। किसी ने बताया। वो जवानी से ही गुरु की तलाश में लग गया। गुरु मिले नहीं। उसने हठ पकड़ ली कि गुरु चाहिए। और कहते हैं कि कोई मानवीय गुरु मिले बिना ही उसको मुक्ति मिल गई।

किसी ने पूछा, "कैसे? भई, परंपरा में तो गुरु को अनिवार्य बताया गया है। तुम्हें तो गुरु मिले नहीं। तुम्हें मुक्ति कैसे मिल गई?" तो उसने कहा कि, "मैंने जीवन-भर बस एक शर्त रखी, बस एक बात का ख्याल रखा, जिस दिन गुरु मिलें, मैं इस काबिल रहूँ कि उनके सामने खड़ा हो सकूँ। गुरु पता नहीं कब मिलेंगे, पर मैं अपने-आपको इस काबिल बनाए रहूँ कि जब उनके सामने खड़ा रहूँ तो लजाना न पड़े।"

गुरु के सामने खड़ा होने के लिए भी बड़ी पात्रता चाहिए न।

एक तरह से वो मन-ही-मन तुलना करता रहा। वो तुलना ही उसका साधन बन गई। वो तुलना ही उसे मुक्त कर गई। उसने कहा कि कभी तो मिलेंगे, जब मिलें तो ऐसा न हो कि उनके सामने बड़ा अपमानित होना पड़े। गुरु कहें कि तुम इस योग्य ही नहीं कि शिष्य हो पाओ। तो वो लगातार तैयारी में रहा। उसकी तैयारी बस इतनी सी थी कि जब गुरु सामने आएँ तो मुझे स्वीकार कर लें, कहीं कुपात्र न ठहरा दें।

कथा का मर्म देखिए। उस साधक को दैहिक गुरु मिला नहीं। शरीर से उसे कोई गुरु मिला नहीं। वो फिर भी तर गया। और बहुत होते हैं जिनके सामने कोई होता है ऐसा मौजूद जो उनकी सहायता कर सकता है, पर उन्हें कोई लाभ नहीं होता। क्यों नहीं लाभ होता? क्योंकि गुरु से लाभ उठाने के लिए, तुम्हें थोड़ा-बहुत तो गुरु जैसा होना पड़ेगा न।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2019)

सब महापुरुष कभी तुम्हारी तरह साधारण ही थे

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, मुझे अपने बारे में बताना कि मैं कैसा हूँ। मुझे बहुत भय लगता है ख़ासकर के महापुरुषों के सामने, जैसे आपके सामने।

आचार्य प्रशांत: (हँसते हुए) महापुरुष किसको बोला? दोबारा मत बोलिएगा! गाली दे रहे हैं?

ये अच्छा खेल है न? वही जिसकी चर्चा आज शुरू में करी थी। दूसरे को महापुरुष बना दो ताकि उससे कोई नाता रखना ही न पड़े। ठीक यही कहा है अभी, कि, “मुझे आपके सामने खुलना, आपको अपने दिल की बात बताना बड़ा मुश्किल लगता है क्योंकि आप तो साहब महापुरुष हैं"। बता ही नहीं पाएँगे। बिल्कुल नहीं बता पाएँगे। अगर मैं महामानव हो गया और आप साधारण मानव, तो हमारा क्या रिश्ता हो सकता है? कुछ भी नहीं हो सकता। क्या रिश्ता है? कुछ नहीं।

और मुझे महामानव बना कर, आपने अपने आपको अधिकार दे दिया, लाइसेंस दे दिया, साधारण मानव बने रहने का। है न? और क्या कह रहे हैं आगे?

प्र: भय चला जाए, ऐसा कोई उपाय बताएँ।

आचार्य: वही कर रहा हूँ।

हम बदलना नहीं चाहते, इसके लिए हम तरीके-तरीके के उपाय करते हैं। एक उपाय ये है कि जो कोई हमसे आगे हो, उसको घोषित कर दो - ‘महापुरुष’, और फिर बोल दो, “वो तो महापुरुष हैं, मैं तो छोटा आदमी हूँ, तो मैं उनके जैसा जीवन थोड़े ही जी सकता हूँ।”

फिर पूछ रहा हूँ, महापुरुष बोला किसको? दोबारा मत बोलना!

जो ज़िंदगी आपने जी है, मूलभूत रूप से वही ज़िंदगी मैंने जी है। क्यों? क्योंकि मूलभूत रूप से जो शरीर आपके पास है, वही मेरे पास है भाई! जहाँ शरीर है वहाँ वृत्तियाँ हैं। जहाँ से आपने शुरुआत करी है, ठीक वहीं से मैंने शुरुआत

करी है। आपको हो सकता है रास्ते में जो गाँव-शहर मिले हों, उनके नाम कुछ और हों, मुझे जो गाँव-शहर मिले, उनके नाम कुछ और हों, लेकिन रास्ते में गाँव-शहर आपको भी मिले हैं, मुझे भी मिले हैं। समझ रहे हैं बात को?

मुझे इतनी दूर का मत बना दीजिए कि आपको सहूलियत हो जाए वहीं बैठे रहने की जहाँ आप बैठे हैं। क्योंकि मैं उतनी दूर हूँ नहीं। आपके लिए बहुत आसान है उठकर के मुझ तक आना।

हम एक सुविधाजनक विभाजन करते हैं: साधारण लोग और असाधारण लोग। और जो साधारण है, उसका काम है साधारण ही रह जाना। और जो असाधारण है, "उसको तो भाई दैवीय भेंट मिली हुई थी। वो तो जन्म से ही अद्वितीय था। उसपर तो ईश्वरीय अनुकम्पा थी।" किसी पर कोई ईश्वरीय अनुकम्पा नहीं होती। सब अपना रास्ता चलते हैं, तय करते हैं। जैसे आप चल रहे हो, वैसे ही मैं भी चला हूँ, वैसे ही सब चल रहे हैं।

अभी गांधी जयंती थी, दो तारीख को। एक लेख लिखा था मैंने छोटा सा, पढ़ा था आप लोगों ने? उसमें वही तो बताया था कि महात्मा गांधी बड़े अच्छे उदहारण हैं ये देखने के लिए कि मिट्टी से कोई उठकर कोई महात्मा कैसे बनता है। आप जितने तरीके के दोष सोच सकते हैं, सब महात्मा गांधी में थे। जिन-जिन बातों को आप कहते हैं कि, "अरे! ये तो मुझमें होनी नहीं चाहिए!" वो सब उनमें मौजूद थी। और उन सब बातों के साथ आगे बढ़ते गये। गांधी जी आगे बढ़ गये, वो बातें पीछे छूट गयीं। भय उनमें था, दूसरों से प्रभावित हो जाने की वृत्ति उनमें थी, अज्ञान उनमें था, कामवासना उनमें थी, और ये सब भी थोड़े बहुत नहीं, भरपूर मात्रा में। जितने आप में हैं उतने ही, बल्कि हो सकता है उससे ज़्यादा। इन सब दोषों को देखते गये और उनसे मुक्त होते गये। साधना करी उन्होंने, लम्बी।

इस मामले में वो बहुत अच्छे उदहारण हैं क्योंकि पास के हैं, उनका जीवन उपलब्ध है, सप्रमाण उपलब्ध है। जो पीछे वाले होते हैं न, दूर के, मान लो हज़ार साल पीछे के, उनके साथ हमको बड़ी सुविधा हो जाती है। हम क्या घोषित कर देते हैं? कि, "जब फलाने का जन्म होने वाला था तब उनकी माताजी के सपने में विष्णु भगवान आए, और उन्होंने कहा कि ये जो नक्षत्र है, ये अति-विरल है, ये दस हज़ार साल में एक बार आता है। और आज तुम्हारे यहाँ जिस बालक का जन्म होगा, देवी, वो मेरा ही अवतार है। और जब वो बालक पैदा हुआ तो उसके शरीर पर गदा, शंख, और पुष्प आदि निशान पहले से ही मौजूद थे। और बच्चा पैदा होकर रोया नहीं, बोला, 'हरी ॐ!'"

फैला दो इस तरह की कहानियाँ। फैला दो कि वो तो पैदा ही विशेष हुए थे। गांधी जी के साथ कम-से-कम हम ये अन्याय नहीं कर सकते कि हम ये कहानी फैला दें कि वो पैदा ही विशेष हुए थे। तो इसलिए मैंने उनके जन्म-दिवस पर कुछ बात कही। पुराने लोगों के साथ बड़ी दिक्कत हो जाती है।

कबीर साहब से बड़ा प्रेम है मुझे, लेकिन उनके बारे में भी न जाने कितनी कहानियाँ फैला दीं! कहानियाँ क्या, अफवाहें हैं, बेकार की बातें! "कमल के पुष्प पर मिले थे।" हैं? इतना बड़ा कौनसा कमल का पुष्प होता है कि

उसपर बच्चा लेटा दो? और पता नहीं कितनी बातें! कोई बोल रहा है गोरखनाथ को हरा दिया, कोई बोल रहा है फरीद से मिले थे। गोरखनाथ चार-सौ साल पहले के, फरीद उनसे तीन-सौ साल पहले के, कहाँ से मिल लिए? पुराने लोगों के साथ ये बड़ी समस्या है, हम उनको जीने ही नहीं देते। हम उनकी जीवनी में तमाम तरह के मिश्रण कर देते हैं, घपला कर देते हैं। और हम उनको क्या बना देते हैं? अति-मानव, सुपर हूयमन!

कोई नहीं होता सुपर हूयमन भाई! सब साधारण मिट्टी के ही बने होते हैं। सबने एक-सा ही जन्म लिया है। और अगर सबने एक-सा ही जन्म लिया है तो जो ऊँचाई किसी कृष्ण, किसी बुद्ध को मिलती है, वो आपको भी मिलनी चाहिए। वो आपकी ज़िम्मेदारी है। आपको अगर नहीं मिली, तो ये कहकर अपना बचाव मत करिए, कि, “कृष्ण तो ख़ास थे न! वो तो विष्णु के अवतार हैं। हम थोड़े ही विष्णु का अवतार हैं।” कोई नहीं होता विष्णु का अवतार! या ये कह लीजिए कि विष्णु के अवतार सब ही होते हैं। पर भेद मत करिए। या तो ये कहिए कि कोई विशिष्ट व्यक्ति विष्णु का अवतार नहीं होता, या फिर ये मानिए कि एक-एक प्राणी विष्णु का अवतार ही है, और सबमें विष्णु का अंश मौजूद है। बाकी ये तो अपनी ज़िम्मेदारी है, और अपनी नियत, और अपना इरादा है कि हम अपने भीतर के विष्णुत्व को साकार करते हैं कि नहीं, प्रकट होने देते हैं कि नहीं। पर ये मत कहिए, कृपा करके, कि कोई जन्म से ही ख़ास है या कि कोई चोसेन वन है, सिलेक्टेड वन है, कि किसी का जन्म ही हुआ था मानवता को बचाने के लिए। ये मत करिए, ये बहुत गलत है।

सब एक-से हैं। अब ज़िम्मेदारी बढ़ी न आपकी, कि, "अगर राजकुमार सिद्धार्थ बुद्ध बन सकते हैं तो मैं बुद्ध क्यों नहीं बना भाई?” और सिद्धार्थ गौतम ने भी बड़ा साधारण जीवन जिया था, बल्कि विलासिता से भरपूर, अय्याशी। तमाम तरह की सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि उनके पिताजी पूरे राज्य भर की, छोटा-सा ही राज्य था, सुन्दर जितनी कन्याएँ होती थीं उन सबको ले आते थे - “बेटा, डेटिंग करो!” फिर शादी भी हो गयी। और शादी भी जिससे हुई, वो भी बड़ी सुन्दर, मोहिनी स्त्री। फिर बच्चा भी कर लिया। ये सब साधारण जीवन के लक्षण हैं या विलक्षण जीवन के? ये सब काम कौन करते हैं, साधारण आदमी या अदुभत आदमी? साधारण आदमी ही न?

लेकिन हमने कहानियाँ जोड़ दी हैं। कहानियाँ क्या जोड़ी हैं? कि जब बुद्ध पैदा हुए तो हिमालय से एक बहुत बुड्ढा साधू उतर कर आया!” हैं भई? कौन-सा कम्युनिकेशन हुआ था? कौन-सा नेटवर्क था कि वहाँ वो यही खबर लेता रहता था कि कहाँ कौन बच्चा पैदा हो रहा है?

“और उसने आकर के बुद्ध के पिताजी से कहा, ‘तुम्हारे यहाँ ये जो बच्चा पैदा हुआ है, मैं इसके चरण स्पर्श करना चाहता हूँ, क्योंकि मुझे पता नहीं कि जब तक ये बड़ा होगा मैं बचूँगा कि नहीं, पर मैं इतना बताए देता हूँ कि ये जो बच्चा पैदा हुआ है, या तो ये चक्रवर्ती सम्राट निकलेगा, या फिर बहुत बड़ा संत, महात्मा।” तो हमने बना दी न कहानी कि बुद्ध तो पैदा ही ख़ास हुए थे, और उनकी खासियत का पता चल गया था वहाँ दूर हिमालय पर बैठे किसी साधु

को। किसी को कुछ नहीं पता चलता, बेकार! ये सब हमारी साजिश भरी कहानियाँ हैं, अपने ही खिलाफ साजिश करते हैं हम। हमने घोषित कर दिया कि बुद्ध तो विशेष हैं, जन्मजात विशेष हैं, और हम तो विशेष हैं नहीं, तो हमें छुट्टी मिल गई! तो जितने अच्छे-अच्छे काम करने हैं, वो बुद्ध करें, और जितने घटिया-घटिया काम करने हैं, वो हम करेंगे!

क्या खेल खेला है, गज़ब!

हद्द है!

वो भी ऐसे ही थे। ऐसे ही उन्होंने भी राज्य भोगा है, विलासिताएँ भोगी हैं। ऐसे ही उन्होंने भी सब लड़कियाँ भोगी हैं, उसके बाद ब्याह भी लाए हैं, उसके बाद बच्चा भी पैदा कर दिया है। उन्हें भी वही सब कुछ दिख रहा था जो आपको दिखता है। वैवाहिक जीवन में उनका भी दम घुटा होगा जैसे सबका घुटता है, पर उन्होंने फिर एक निर्णय लिया जो सब लोग नहीं ले पाते। उन्होंने कहा, "सच्चाई, उसमें जीना है। ये जो पूरा खेल चल रहा है, मुझे अब समझ में आ रहा है कि ये फ़साऊँ खेल है। और इसमें मैं ही नहीं, पूरा जगत फँसा हुआ है। संसार का नाम ही दुःख है।" उन्होंने कहा, "दुःख से मुक्ति चाहिए। अपने ही लिए नहीं, सबके लिए चाहिए।"

ये एक निर्णय था; ईश्वरीय अनुकम्पा नहीं थी, व्यक्ति का निर्णय था। समझिए बात को। एक इंसान ने निर्णय लिया कि जैसे जी रहा हूँ वैसे नहीं जीऊँगा। वो निर्णय लेना सबकी ज़िम्मेदारी है। आपकी भी ज़िम्मेदारी है। आप क्यों नहीं ले रहे निर्णय? क्योंकि आपको एक छाँव, एक ढाल, एक बहाना मिल गया है। क्या? "बुद्ध तो महापुरुष थे, वो कोई भी निर्णय ले सकते हैं, मैं तो साधारण पुरुष हूँ।" बुद्ध का दिल भी काँपा होगा ये निर्णय लेने में। उन्होंने भी अकस्मात नहीं ले लिया होगा। कहानी तो कहती है कि वो जा रहे थे और फिर बस उन्होंने तीन बार, तीन चीज़ें देखीं, और उन्होंने कहा, "नहीं नहीं, मैं छोड़कर जा रहा हूँ।" ऐसा कैसे हो सकता है? उन्होंने कोई बुड्ढा आदमी नहीं देखा था पहले? उनके माँ-बाप नहीं बुढ़ाए थे? बताइए?

कहानी कहती है कि बुद्ध ने देखा एक बूढ़ा आदमी, एक बीमार आदमी और एक मृत आदमी, और ये सब देखकर उन्होंने कहा, "अरे! अगर जीवन ऐसा है तो जीवन तो दुःख से परिपूर्ण है, और मुझे कुछ करना होगा।" राजमहल में कोई बीमार नहीं पड़ता था क्या? और, और तो छोड़ दो, बुद्ध के माता-पिता बूढ़े नहीं हो गए थे? तो ऐसा कैसे हुआ कि उन्होंने पहले कोई वृद्ध देखा ही नहीं था? निश्चित रूप से देखा था। देखते आ रहे थे, भीतर आत्म-मंथन चल ही रहा था; अचानक, यकायक कुछ नहीं हो गया। देख रहे थे, सोच रहे थे, समझ रहे थे, विचार कर रहे थे, और फिर धीरे-धीरे निर्णय करते गये, आगे बढ़ते गये।

ये निर्णय करना, मैं कह रहा हूँ, हम सबका दारोमदार है। आप क्यों नहीं करते ऐसे निर्णय? आप अपना बुद्धत्व क्यों

जगा नहीं रहे हैं? क्यों उसे सोए रहना देना चाहते हैं? बोलिए।

मुझे सख्त ऐतराज़ है अगर मुझे ख़ास बोला जाए, या महापुरुष बोला जाए, या कुछ भी और बहुत आभूषित उपाधि दी जाए। बिल्कुल आपके जैसा हूँ। समझ में आ रही है बात? बिल्कुल आपके जैसा हूँ, और जो मैं ये आपसे बात भी बोल रहा हूँ, साहब, ये आपकी ही बात है। आपको पता नहीं क्या? ये जो मैं आपसे बात बोल रहा हूँ, ये बातें आपको मेरे बोलने से पहले नहीं पता थीं क्या? सब पता थीं। मैं आपकी ही बात को आप तक पहुँचा रहा हूँ। मैं आपकी ही उस बात को आप तक पहुँचा रहा हूँ जो आमतौर पर आप अपने आप से करते नहीं।

ये जो बात मैं आपसे कह रहा हूँ, ये किताबी ज्ञान नहीं है, ये आत्मिक ज्ञान है। और आत्माएँ अलग-अलग तो होती नहीं हैं। तो जो बात मुझे पता है, वो बात आपको भी पता है। इसीलिए तो ये सारी बातें आप तत्काल समझ जाते हैं। समझ जाते हैं कि नहीं? भले ही बात सुनने में कितनी भी उलटी-पुलटी और अटपटी हो, पर आप कहते हैं, "ठीक, आ रही है बात समझ में।" कैसे समझ में आ रही है? क्योंकि वो बात आपको पहले ही समझी हुई है। वो अंतर-ज्ञान है। बस आप बड़े खिलाड़ी हैं, आप वो बात अपने आप से खुद नहीं बोलते, मेरे मुँह से कहलवाते रहते हैं - "तुम बोलो न!"

हैं भई? मैं आपका माउथ-पीस (मुखपत्र) हूँ बस। मैं क्या हूँ आपका? माउथ-पीस ; आपका प्रतिनिधि, *रिप्रेज़ेन्टेटिव*। गुरु इत्यादि मत बोल दीजिएगा। क्या हूँ? प्रतिनिधि। मैं आपसे आपकी ही बात कर रहा हूँ। ऐसे समझ लीजिए कि कोई जैसे ख़ास आईना हो, जिसके सामने आप गन्दी शक्ल लेकर भी खड़े हो जाएँ तो वो आपको आपकी गन्दी शक्ल के पीछे की साफ़ शक्ल दिखा दे। ऐसा कोई आईना हो सकता है न? जैसे एक्स-रे मशीन होती है भाई, उसके सामने तुम माँस भी लेकर खड़े हो जाते हो तो वो माँस के नीचे की हड्डी दिखा देती है न? तो वैसे ही कोई आईना भी हो सकता है जिसके सामने तुम चेहरे पर कुछ भी चुपड़ कर खड़े हो जाओ, पर वो दिखा देगा असली शक्ल। हो सकता है कि नहीं? तो मैं वैसा आईना भर हूँ। मैं कुछ नया नहीं दिखा रहा आपको। मैं आपको आपकी ही वो साफ़-सुथरी शक्ल दिखा रहा हूँ जिसको आपने गन्दगी के पीछे छुपा रखा है। अब उस नाते मुझे गुरु बोलना बिल्कुल भी ज़रूरी नहीं है।

गुरु क्या होता है? गुरु बोलकर तो दूरी बना लेते हो। फिर वही महापुरुष वाली बात कर दी! मार्गदर्शक बोल लो, प्रतिनिधि बोल लो, बस एक वक्ता बोल लो। यहाँ उद्देश्य ये थोड़े ही है कि बोलो, "जय गुरुदेव!" उद्देश्य दूसरा है।

ये बात आ रही है समझ में? नहीं आ रही?

जिसे साधारण, सामान्य जीवन बोलते हैं, कॉर्पोरेट-लाइफ , हाउस-होल्डर्स लाइफ , उससे हट करके थोड़ा-सा जो

ये मैंने जीवन चुना है, वो इसलिए चुना है क्योंकि मुझे कुछ बदलाव देखने हैं। वो बदलाव आ पाएँ, तो ही मेरा काम सार्थक हो रहा है, तो ही मुझे किसी तरह का आनंद भी है; नहीं तो जो मेरा पूरा प्रोजेक्ट है, अभियान, वो विफल ही हो गया न? तो आपसे भी मुझे क्या चाहिए? महापुरुष की उपाधि नहीं चाहिए अपने लिए, मुझे आपसे वो बदलाव चाहिए जो मैं देखना चाहता हूँ। 'मैं देखना चाहता हूँ' - इसका मतलब ये नहीं कि वो बदलाव 'मैं' ही देखना चाहता हूँ। वो बदलाव भी वही है जो आप भी देखना चाहते हैं। कहा न आपका प्रतिनिधि हूँ। तो जब मैं कहूँ कि 'मैं कोई बदलाव देखना चाहता हूँ,' तो वो वही बदलाव है जो वास्तव में आप भी अपने जीवन में देखना चाहते हैं, पर न जाने क्यों उस बदलाव को लाने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे। उस बदलाव को लाने की प्रेरणा नहीं इकट्ठा कर पा रहे।

तो मैं आपसे आपकी ही बात कर रहा हूँ। मेरे पास कहने के लिए कुछ नया या बाहरी नहीं है। इसका मतलब ये है कि मैं आपके ऊपर बहुत सारी ज़िम्मेदारी रख रहा हूँ। मैं अपने ऊपर नहीं ले रहा हूँ ज़िम्मेदारी। आईना क्या ज़िम्मेदारी लेगा? आईना तो बस ये बता सकता है कि, "देखो, जो तुमने अपनी गन्दी शक्ल बना रखी है, उसके पीछे तुम्हारी एक बहुत साफ़-सुथरी शक्ल भी है"। आईने ने दिखा दिया, अब गन्दगी साफ़ करने की ज़िम्मेदारी किसकी है?

किसकी है?

प्र: हमारी।

आचार्य: यही बदलाव देखना है मुझे!

और मैं अपने आप को क्यों बीच में लाऊँ, आपको भी तो यही बदलाव देखना है न?

(श्रोतागण 'हाँ' में सिर हिलाते हैं)

हाँ!

तो जो आप करना चाहते हैं वास्तव में, उसे करिए, और कोई बात नहीं।

....

(मुंबई, 2019)

ग़ुलामी चुभ ही नहीं रही, तो आज़ादी लेकर क्या करोगे?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आपसे सीखा है कि जीवन में मौज और मुक्तता होनी चाहिए। बेखौफ़, निडर जीना चाहिए, न कि किसी बाहरी व्यवस्था में बंधकर। पर अगर मैं बाहरी व्यवस्थाओं का ख्याल नहीं करता तो आलसी हो जाता हूँ, और फिर तनाव आता है। और अगर मैं आपकी अत्यधिक मेहनती जीवनशैली की नकल करने की कोशिश करता हूँ तो शरीर जवाब देने लगता है। कृपया समझाएँ कि ऐसा क्यों हो रहा है। क्या ये सबके साथ होता है?

आचार्य प्रशांत: ये जो दो हिस्से हैं तुम्हारी अपनी स्थिति के वर्णन के, वो दोनों ही हिस्से थोड़े गोलमोल हैं। कह रहे हो कि अगर बाहरी व्यवस्थाओं की उपेक्षा करते हो तो आलसी हो जाते हो, और फिर तनाव आता है। बाहरी व्यवस्था सिर्फ 'बाहरी' थोड़े ही है। अगर व्यवस्था की उपेक्षा करने के पीछे तुम्हारी नियत ये है कि तुम बंधना नहीं चाहते किसी ऐसी चीज़ में जो निजी नहीं है, जो तुम्हारी आत्मिक नहीं है, तो जो चीज़ आत्मिक नहीं है, वो सिर्फ बाहर की व्यवस्था में थोड़े ही बैठी है, वो भीतर भी तो प्रवेश कर गई है न। जिसको तुम 'भीतरी' बोलते हो, वो भी तो 'बाहरी' है।

तुम्हारी नियत ये है कहने की कि, "देखिए आचार्य जी, बेखौफ़, निडर जीना चाहिए, तो बाहर की जो व्यवस्था होती है मैं उसकी उपेक्षा, अवहेलना कर देता हूँ। बाहरी नियमों को तोड़ देता हूँ। पर जब मैं बाहरी नियमों को तोड़ देता हूँ तो आलसी हो जाता हूँ, तनाव आता है।" माने कुछ ऐसा-सा होता होगा कि बाहरी नियम है कि इतने बजे ये काम कर देना है या इतने बजे इस जगह पहुँच जाना है या दिन भर में इतना काम तो करना ही करना है, और तुम बाहरी नियमों को तोड़ने के नाम पर काम करना बंद कर देते होंगे, जहाँ पहुँचना है वहाँ से देर से पहुँचते होंगे। तो आलस आया, आलस पर चले, और फिर जब काम नहीं करा, देर से पहुँचे, तो फिर गाली खाई, सुनना पड़ा दूसरों से। तनाव आया फिर, चोट लगी। कुछ ऐसा होता होगा।

लेकिन बाबा, बाहर वाला जो तुम्हारा मालिक बन रहा है, तुमने उसकी तो अपेक्षा कर दी, और जो भीतर बैठा हुआ है आलस बनकर, वो भी तो मालिक ही बन रहा है तुम्हारा, उसकी उपेक्षा तो नहीं कर पाए न तुम। ये तो तुमने बड़ा भ्रम

पाल रखा है कि जो बाहर से तुम पर शासन करे या आदेश चलाए, सिर्फ वही बाहरी है। अपनी आंतरिक व्यवस्था को तो तुमने बिल्कुल ही अपना मान लिया, तुमने कह दिया न 'आंतरिक' है। आंतरिक को 'आत्मिक' बना मारा तुमने, जबकि वो आंतरिक भर है, आत्मिक नहीं है।

अध्यात्म का एक बुनियादी सूत्र चूक गए तुम: बाहरी और आंतरिक, दोनों में से आत्मिक कोई नहीं होता।

और जो बाहरी ही है, उससे ज़्यादा बाहरी और ज़्यादा खतरनाक वो होता है जो अंदरूनी लगता है। समझना बात को। कोई बाहर से तुम पर शासन करे, हुकुम चलाए, आसान होता है पकड़ पाना कि मेरे साथ कुछ गलत हो रहा है, क्योंकि बहुत स्पष्ट है कि सामने कोई खड़ा हुआ है और वो तुम पर चढ़ बैठने की कोशिश कर रहा है। इंद्रियाँ बाहर की ओर ही देखती हैं और मन बहुत समझदार होता नहीं, तो जहाँ मन ने देखा कि बाहर से कोई आ कर तुम पर गुर्रा रहा है, तुम समझ जाते हो कि गलत हो रहा है मेरे साथ, गलत हो रहा है। इतना तो पशु भी समझ जाते हैं न? जानवर जैसे ही होते हैं हम बहुत मामलों में। लेकिन जो आंतरिक व्यवस्था बैठी हुई है, चाहे वो जो हमें बाहर से कंडीशनिंग (संस्कार) मिल गए हैं, वो हों, या फिर जो हमारी प्रकृतिगत, जन्मगत वृत्तियाँ हैं, वो हों, इनको तो हम नाम दे देते हैं 'मैं' का। हम कह देते हैं - "ये तो जी हमारी अपनी है"।

नतीजा ये निकलता है कि जब मैं सिखाता हूँ कि गुलामी के विरुद्ध विद्रोह करो, तो लोग बड़ा आधा-अधूरा और आत्मघातक विद्रोह कर मारते हैं। वो क्या करते हैं कि जितना भी बाहरी अनुशासन होता है, वो उसको तोड़ने लग जाते हैं। क्यों? "आचार्य जी ने कहा है कि बेखौफ़, निर्भय जीना है, तो जितनी बाहरी व्यवस्था है उसको नहीं मानना है। और जो भीतरी व्यवस्था है, जो भीतरी अराजकता है, जो भीतरी आलस है, उसको तो जी मानना है, बिल्कुल मानना है। बिल्कुल मानना है क्योंकि वो तो जी मैं हूँ।"

ये जो भीतर वाला है न, जिसको 'मैं' बोलते हो, ये बाहरी से ज़्यादा बाहरी है। और इससे ज़्यादा घातक कोई नहीं है तुम्हारे लिए। इसीलिए बार-बार बोलता हूँ कि बाहर से तो बाद में बचना, पहले तुम खुद से बचो, अपने-आप से बचो, जो तुम्हारे भीतर बैठा है, उससे बचो। वही दुश्मन है तुम्हारा। वही ज़हर है तुम्हारा। वो जो तुम्हारे भीतर बैठा है तुम्हारी 'बुद्धि' बनकर, जो तुम्हारे भीतर बैठा है 'मैं' बनकर, वो जो भीतर बैठा है तुम्हारा 'सलाहकार' और 'शुभचिंतक' बनकर, वो तुम्हारा सबसे बड़ा बैरी है।

पर हम उसको बैरी कहाँ मानते हैं, हम उसको कहते हैं, "ये तो मैं हूँ, ये तो मैं हूँ"। और ठीक उस तरीके से जैसे बाहर कोई हम पर गुर्राए तो हमारे लिए आसान होता है ये कह देना कि इसके तो मुझे खिलाफ विद्रोह करना है, उसी तरीके से बाहर से अगर हम पर हमारा शुभचिंतक भी गुर्राए, तो हम उसके खिलाफ भी विद्रोह कर ही देंगे, क्योंकि हम बाहर की ओर ही अनिवार्यतः देखने वाले पशु हैं। भीतर की ओर देखने वाली आँखें नहीं हैं हमारे पास।

बाहर से कोई हमें प्यार कर दे, हमें लगता है, "ये तो मिल गया जीवनसाथी"। बाहर से कोई गुर्रा दे तो...!

हम बाहर ही देखते रह जाते हैं; वार हम पर पीछे से हो जाता है, वार हम पर अंदर से हो जाता है। पीछे से भी अगर आपके सीने में कोई खंजर घोपे, तो आप बच जाओगे न? पर अगर आपके सीने के अंदर से कोई आपके सीने में खंजर घोपे, तो कैसे बचोगे?

बताना ज़रा, ज़िन्दगी में बड़े-से-बड़े ज़ख़्म किसने दिए हैं, उन्होंने जो तुम्हारे बाहर थे या उन्होंने जो तुम्हारे दिल के भीतर ही बैठे थे? बड़े-से-बड़े ज़ख़्म तो तुम्हें वो ही दे पाते हैं जो सीधे दिल के अंदर बैठ जाते हैं, और वो दिल के अंदर से खंजर मारते हैं। उनसे बचोगे कैसे? आँखें तो बाहर देख रही हैं, और भीतर को देखने वाली आँख जीवन में कभी खुली ही नहीं, क्योंकि उसको खोलने में अभ्यास लगता है, उसको खोलने में ज़रा दम लगता है, अनुशासन लगता है। भीतर वाली आँख खोली नहीं तो जितने हमारे दिलदार होते हैं, वही दिल पर वार करते हैं। फिर बताते हुए भी लजाते हो। कौन कर गया वार? वो जो दिल के भीतर था दिलदार। किसे बताओगे किसी को? ज़ख़्म ऐसा है कि दिखाया भी नहीं जाता।

ये अंदर वाले से बचो।

मैं फ़िल्मी विद्रोह नहीं सिखाता, भाई। मैं तुमको रजनीकांत थोड़े ही बना रहा हूँ कि बाहर चले गए और जाकर के पचास-साठ लोगों को एक साथ अकेले ही पीट आए, और बोले, "ये देखो, मैं हूँ आध्यात्मिक आदमी, संसार से नहीं डरता। जगतजीत हूँ मैं!"

स्वयं को जीतना होता है, भीतर जाना होता है।

एक से एक सूरमा होते हैं। वो ऐसे भी होते हैं कि, "आचार्य जी, आपने ही तो सिखाया था न कि बाहर किसी की नहीं सुननी है, तो अब हम आपकी नहीं सुनते हैं। आपकी ही शिक्षाओं पर चल रहे हैं। आपने ही कहा था कि किसी बाहरी अनुशासन को स्वीकार मत करना। तो देखिए, सबसे पहले तो हम आपको अस्वीकार करते हैं।" तुम्हारे भीतर कौन बैठा है जो मुझे अस्वीकार कर रहा है? एक पल को उसके खिलाफ भी तुमने विद्रोह कर लिया होता। पर नहीं, ये सब खूब होता है।

भीतर वाले दुश्मन से हम लड़ना नहीं चाहते क्योंकि उसकी शक्ल बिल्कुल हमारी शक्ल जैसी है, उसका नाम हमारा ही नाम है, उसकी आँखें हमारी आँखें हैं, उसका शरीर हमारा शरीर है, उसके रिश्ते हमारे रिश्ते हैं। अरे! वो तो बिल्कुल हमारे जैसा है—वो तो हम ही हैं ।

भीतर वाले से कैसे लड़ोगे? उसके लिए तो प्रकृति ने हमें तैयार ही नहीं किया है। उसके लिए तो कोई और हमें तैयार करता है। पता नहीं क्या नाम उसका!

आ रही है बात समझ में?

प्रश्नकर्ता आगे कह रहे हैं, "आचार्य जी, फिर मैं आपकी मेहनती जीवनशैली की नकल करने की कोशिश करता हूँ तो मेरा तो शरीर जवाब देने लगता है"। हैं भई? तुम अगर मेरी नकल कर रहे हो, तो इस बात की भी तो नकल करो न कि मैं किसी की नकल नहीं कर रहा हूँ। अगर तुम वही करना चाहते हो जो मैं कर रहा हूँ, तो तुम ये भी तो देखो न कि मैं वो नहीं कर रहा हूँ जो कोई और कर रहा है। मैं किसकी नकल कर रहा हूँ?

स्वागत है तुम्हारा, तुम मेरे जैसा हो जाना चाहते हो। तुम्हें कुछ सौंदर्य दिखाई दे रहा है, तुम्हें कुछ प्रेरक दिखाई दे रहा है, तुम्हें कुछ ऊँचा दिखाई दे रहा है, अच्छी बात है, स्वागत है। पर फिर ठीक से तो देखो कि तुम्हें जिसके जैसा होना है, वो क्या है, कौन है, कहाँ से अपनी ऊर्जा पाता है। मैं किसकी नकल उतार रहा हूँ? मेरे सामने कौन खड़ा है आदर्श बनकर? मैं तो जीवन को देख रहा हूँ, भाई। मेरी मेहनत इसलिए थोड़े ही आ रही है कि मैंने किसी और की मेहनत नापी हुई है और कह रहा हूँ, "ये उतनी मेहनत करता है तो उतनी ही फिर मैं भी करूँगा"। मैंने किसी और को थोड़े ही अपना मापदंड बना रखा है।

मुझे तो पता भी नहीं है कि मैं कितनी मेहनत कर रहा हूँ। तुमने लिख दिया है कि, "आचार्य जी, आपकी अत्यधिक मेहनती जीवनशैली की नकल उतारने की कोशिश करता हूँ"। तुम सुना रहे हो ये खबर तो सुन ली, नहीं तो अपने पास कहाँ पर समय है कि नापें कि कितनी मेहनत कर रहे हैं और कितनी नहीं कर रहे हैं। हाँ, शरीर जब चरमराने लगता है तो पता चल जाता है कि सोने का समय आ गया भाई। पेट जब कुलबुलाने लग जाता है तो समझ आ जाता है खाने का समय आ गया भाई। और सोते-सोते यकायक ख्याल आ जाता है कि बहुत काम बाकी है, तो उठ जाते हैं। जैसे ही हमें ख्याल आता है कि बहुत काम बाकी है, हमारा ब्रह्म मुहूर्त आ जाता है भाई। ब्रह्म का ही काम करते हैं, ब्रह्म ने ही याद दिला दिया कि उठो काम करना है, वही तो ब्रह्म मुहूर्त है, और क्या? घड़ी देखकर थोड़े ही आएगा ब्रह्म मुहूर्त। जब ब्रह्म जीवन में उतरा, वही ब्रह्म का मुहूर्त।

तो हम तो ऐसे चलते हैं। तुम हमें देख-देखकर चल रहे हो! ये ऐसी ही बात है कि दो रस्सियाँ पैरेलल (समानांतर) बंधी हुई हों, और दो रस्सियों पर दो लोग हैं जो चल रहे हैं। एक खुद को देखकर चल रहा है और दूसरा दूसरे को देखकर चल रहा है। जो खुद को देखकर चल रहा है, वो तो रस्सी पर चलकर पार भी हो जाएगा; जो दूसरे को देखकर चल रहा है, वो कहाँ से पार पाएगा?

मुझसे अगर कुछ सीखना चाहते हो, तो यही सीखो कि जीवन में बड़े विवेक से और बड़ी निष्कामना से सही लक्ष्य बनाना है और फिर उसमें आकंठ डूब जाना है। मेहनत अपने-आप हो जाती है, गिननी नहीं पड़ती।

ठीक वैसे ही जैसे बैडमिंटन खेलो तो स्कोर गिनते हो, कैलोरी तो नहीं न? कैलोरी अपने-आप घट जाती है। इधर स्कोर बढ़ रहा है, उधर कैलोरी घट रही है। मुझे ये बड़ा पसंद है। पर जिम में बड़ी गड़बड़ होती है, वो सीधे कैलोरी दिखाते हैं। वो चीज़ मुझे रूचती ही नहीं। कैलोरी गिनना, इसमें क्या मज़ा है? बैडमिंटन बेहतर है; उसमें कुछ और गिन रहे हो, और पीछे-पीछे जो होना है वो चुपचाप हो रहा है। वैसा ही जीवन होना चाहिए। तुम वो करो जो आवश्यक है, उससे तुम्हारा जो लाभ होना है वो पीछे-पीछे चुपचाप हो जाएगा, तुम्हें वो लाभ गिनना नहीं पड़ेगा।

मेहनत अपने-आप हो जाएगी। जिम में तुम जाते हो ये लक्ष्य बनाकर कि मेहनत करनी है। बैडमिंटन कोर्ट पर ये लक्ष्य बनाकर नहीं जाते न कि मेहनत करनी है, अपने-आप हो जाती है मेहनत। सावधानी से सुनना, सिर्फ उदाहरण है। इस उदाहरण को बहुत दूर तक खींचोगे तो फिर कह दोगे कि, "नहीं, ये... वो..." इधर-उधर की बातें। जिधर को इशारा कर रहा हूँ, बस उतना समझो।

जब तुम्हारे सामने वो मौजूद होता है जिसको तुमने अपने विवेक का पूरा इस्तेमाल करके जान लिया कि आवश्यक है, अब तुम्हें मेहनत करनी नहीं पड़ेगी, अब तुम्हारी अपनी व्यवस्था मजबूर हो जाएगी मेहनत करने के लिए। तुम अगर चाहोगे भी कि नहीं करूँ मेहनत, तो भी तुम्हें बाध्य होकर करनी ही पड़ेगी। अब इसमें तुम्हारे पास चुनाव नहीं रहा, निर्विकल्प हो गए तुम। सच दिख गया, नकारोगे कैसे उसको?

तो देखो कि तुम्हारे जीवन का यथार्थ क्या है। देखो कि क्या हो सकते हो और क्या हुए पड़े हो। देखो कहाँ बंधे हुए हो। पूछो अपने-आप से कि अगर तमाम तरह के स्वनिर्धारित, स्वप्रमाणित बंधन न हों, तो क्या वैसे ही जीना चाहोगे जैसे आज जी रहे हो? चौंक जाओगे, हतप्रभ हो जाओगे बिल्कुल जब तुम्हें पता चलेगा कि अगर तुमने अपने ऊपर जो तमाम बंधन लगा रखे हैं वो न हों, तो तुम एक-प्रतिशत भी वैसा न जियो जैसा अभी जी रहे हो। फिर तुम्हें दया आएगी अपने ऊपर, तुम कहोगे कि, "कितने कष्ट में जी रहा हूँ मैं। जीवन का एक-एक पल मेरा बिल्कुल वैसा नहीं है जैसा होता, यदि मैं मुक्त होता। मतलब एक-एक पल में पीड़ा है, एक-एक पल में दासता है। गुलामी की सांस लेकर जीना मौत से बदतर है।" उसके बाद मेहनत अपने-आप कर लोगे, जब कहोगे कि, "बुरे-से-बुरा क्या है, सब छिन जाएगा, शरीर भी, मौत आ जाएगी? मौत से बदतर हो जो हो सकता है, वो तो फिलहाल ही हो रहा है, तो फिर तो मैं दूसरा ही विकल्प चुनूँगा, भले ही उस विकल्प में मौत मिलती हो। मेरी जो अभी हालत है उससे तो मौत भली!”

और याद रखो, आध्यात्म की ओर बढ़ नहीं सकते जब तक तुममें अपनी वर्तमान हालत के खिलाफ इतना ज़बरदस्त आक्रोश न आ जाए। जो लोग अपने हालात से संतुष्ट हैं और खुश हैं, अध्यात्म नहीं है भाई उनके लिए, एकदम नहीं

है। भीतर एक गहरी विकलता होनी चाहिए—बड़ी ज़बरदस्त बेचैनी, छटपटाहट होनी चाहिए जो सोने न दे, जीने न दे, जो तुमको उतावला करके रखे, जो तुम्हें एक गहरे आंतरिक तनाव में रखे—तब आध्यात्मिक यात्रा की शुरुआत भी होती है।

और जब मैं ये कहता हूँ, तो यही सुनकर लोग सबसे पहले मुझसे कटते हैं, दूर भागते हैं। कहते हैं, "ये लो! हमें तो आज तक बताया गया था कि अध्यात्म का मतलब होता है शांति, और सुकून, और चैन। 'हरि ओम! बच्चा, आँखें बंद करो और कल्पना करो कि पूर्णमासी का चाँद है, और शांत, शांत, शांत हो जाओ' - हमें तो ये बताया गया था। और हम वही सब विशेष अनुभव पाने के लिए अध्यात्म में आते हैं कि थोड़ा दो-चार पल के लिए हमें भी लगे कि हम पर चांदनी की ज्योत्सना बरस रही है। और आ हा हा हा! शांत सरोवर है जिसमें चंद्रकला प्रतिबिंबित हो रही है। पाँच मिनट के लिए ही सही, शांति तो मिल गई। हम पाँच मिनट की शांति के लिए अध्यात्म चाहते हैं। और आचार्य जी आपके पास आते हैं तो आप कहते हो कि अध्यात्म के लिए सर्वप्रथम तुम्हारे भीतर बेचैनी होनी चाहिए, तड़प होनी चाहिए, छटपटाहट होनी चाहिए। हम तो वैसे ही बेचैन हैं, आप और चाहते हो बेचैन हो जाएँ?"

हाँ, मैं चाहता हूँ तुम और बेचैन हो जाओ। तुम धुधुआ रहे हो, तुम सिसक रहे हो; मैं चाहता हूँ तुम खुलकर रोओ। हमारे कबीर साहब बोल गए हैं—जब पहली बार मैंने ये पढ़ा था दोहा उनका तो बिल्कुल थम गया था मन एकदम। बोलते हैं कि जो ओदी लकड़ी होती है, ओदी लकड़ी समझते हो? गीली।

ओदी बिरहीन लाकड़ी, सिसके औ धुधवाये।

छुट पड़े या विरह से, जो सगरी जली जाये॥

~ गुरु कबीर

एकदम मैं थम गया था। गीली लकड़ी की तरह है हमारा जीवन, सिसक-सिसक कर धुआँ देता है, थोड़ा-थोड़ा जल रहा है। और इसीलिए बहुत लंबा हम चल लेते हैं इस हालत में। आगे कहते हैं कि - "ये हालत खत्म हो जाए”। जिस हालत में हो तुम गीली लकड़ी की तरह, उस हालत से तो कहीं बेहतर है कि तुम पूरे ही जल जाओ।

यही मेरी शिक्षा है, सलाह है: तुम पूरे ही जल जाओ।

क्या गीली लकड़ी की तरह धुआँ दिए ही जा रहे हो, दिए ही जा रहे हो? क्या छुप-छुपकर आँसूँ बहाते हो? क्या भीतर-भीतर रोते हो? आँखें तो अब पथरा गयी हैं, उनमें तो अब नमी भी नहीं आती। भीतर-ही-भीतर आँसूँ बहाते

हो, इस से अच्छा ये है कि तुम टूट जाओ, ढह जाओ, खुल कर रो लो, चिल्ला कर रो लो, आर्तनाद करो।

पर नहीं, प्रसन्नता का, संतुष्टि का, झूठा नकाब पहन कर घूमते रहते हो। अध्यात्म की ओर भी आ जाते हो झूठी शांति और झूठी मुस्कान टपकाते हुए।

बहुत विचित्र लगेगी मेरी बात लोगों को, लेकिन फिर कह रहा हूँ साफ-साफ: अशांति की अभिस्वीकृति, एकनॉलेजमेंट , चाहिए; बेचैनी चाहिए, आकुलता चाहिए। वो नहीं चाहिए जो चैन से आठ-आठ, दस-दस घंटे टाँग फैला कर सोते हैं। छी! बल्कि थू! तुम्हें नींद आ कैसे जाती है? तुम कह कैसे देते हो कि बीमार हूँ? तुम मर क्यों नहीं जाते?

जब तक तुम नहीं निश्चित करोगे, नहीं संकल्प करोगे कि जीवन में कुछ है जो मरने से बदतर है, और इसीलिए जीवन में कुछ होना चाहिए जो मरने से बेहतर हो, तब तक तुम्हारा पूरा जीवन मृत्युधर्मा ही रहेगा।

ये झूठा जीवन है! ये मौत है! हम नहीं जी रहे, हम मरे हुए हैं, लाशें चल रही हैं। आती-जाती साँसें हमें भ्रम में रखे हुए हैं कि हम जीवित हैं। जीता बस वो है जिसके पास कुछ ऐसा है जिसके खातिर मरा जा सकता हो। जो मरने के लिए ठीक इसी पल तैयार नहीं, उसका जीवन, मैं कह रहा हूँ, मौत से बदतर है।

और इसका अर्थ ये नहीं है कि तुम अपनी जान को ले जाकर कुएँ में डाल दो, कि जाकर के व्यर्थ ही कहीं गोलियाँ चला दो और गोलियाँ खा लो। पहली शर्त है कि तुम पहचानो कि तुम फँसे कहाँ हो, बँधे कहाँ हो, और फिर कहो कि यहाँ जहाँ फँसा हूँ, बँधा हूँ, इससे मुक्ति ही वो लक्ष्य है जिसके लिए प्राण भी त्यागे जा सकते हैं। मात्र उस लक्ष्य के लिए त्यागे सकते हैं प्राण अन्यथा प्राण इतने सस्ते नहीं कि कहीं भी जाकर फेंक आए। और जीने का कोई कायदा नहीं, और जीने में कोई खूबसूरती नहीं; जीवन में खूबसूरती का सिर्फ यही तरीका है।

मौत तुम्हें डरा-डराकर मारे रहती है। मौत तुम्हें डराती है कि मर जाओगे, और इसलिए तुम मरा हुआ ही जीवन जिए जाते हो। जीता वो है जो मौत से कहता है, "मर जाऊँगा क्या? तेरे खौ़फ़ में अगर जी रहा हूँ तो मैं मरा हुआ हूँ। तो पहली चीज़ तो ये है कि तेरा खौ़फ़ नहीं चाहिए।" मौत कहेगी, "खौ़फ़ तो मेरा रहेगा क्योंकि तू जीव है, शरीर लेकर आया है। जो शरीर लेकर आया है वो मौत से डरेगा।" और तब तुम कहते हो, "तेरा खौ़फ़ है, तेरा खौ़फ़ बड़ी चीज़ है! लेकिन एक बात बताऊँ, मौत? मेरे पास तेरे खौ़फ़ से भी ज़्यादा बड़ी एक चीज़ है। ऐसा नहीं कि मुझ पर तेरा खौ़फ़ असर नहीं करता, लेकिन मेरे पास कुछ और भी है जिसके सामने मुझे न मौत याद रहती है, न खौ़फ़ याद रहता है। भूल ही जाता हूँ।"

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2020)

हमारे छः दुश्मन

आचार्य प्रशांतः बहुत पुराना ग्रंथ है हमारा - श्रीमद्भगवद्गीता, इतना तो हम सब जानते ही हैं। उसमें इंसान के छह शत्रुओं की, छह दुश्मनों की बात करी है श्रीकृष्ण ने। ठीक है? उनको नाम दिया है – 'षड-रिपु' (छह दुश्मन)। और क्या हैं वो? काम, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य और लोभ। ठीक है? काम माने – इच्छाएँ। क्रोध माने – इच्छाओं की पूर्ति न होने पर उठने वाली उत्तेजित भावना। मद माने – नशा (चेतना का अभाव)। मोह माने – किसी से जुड़ ही जाना। ऐसे जुड़ जाना कि उसके बिना अपने-आपको कमज़ोर समझने लगना, उसपर आश्रित हो जाना। मात्सर्य माने – ईर्ष्या, *जेलसी*। और लोभ तो जानते ही हैं हम – लालच, *ग्रीड*।

ये हमें सब-के-सब सताते हैं, सब परेशान करते हैं। और ये छह अलग-अलग नहीं हैं। अभी मैं अगर आपसे पूछूँ कि इनमें से कौन-सा है जो आपके लिए सबसे ज़्यादा रेलेवॅन्ट , प्रासंगिक है, तो शायद अलग-अलग लोग अलग-अलग शब्द पर उँगली रखेंगे। कोई कहेगा, "मुझे क्रोध ज़्यादा आता है"। कोई कहेगा, "मैं मोह से ज़्यादा ग्रस्त हूँ"। कोई कहेगा, "डरा हुआ रहता हूँ"। कोई कहेगा, "लालच पकड़ लेता है कभी-कभी"। लेकिन ये छह-के-छह एक संयुक्त परिवार है, ये साथ-साथ ही रहते हैं। ऐसा तो हो सकता है कि इनमें से कोई एक किसी समय पर आपको लगे कि आप पर चढ़ा हुआ है, प्रबल है, लेकिन इसका मतलब ये नहीं हुआ कि बाकी पाँच अनुपस्थित हैं। वो बाकी पाँच भी हैं, वो बस छुपे हुए हैं। बाकी पाँच भी हैं, बस छुपे हुए हैं।

तो हम सबको परेशान करने वाले ये छह दुश्मन, ये षड-रिपु अलग-अलग नहीं हैं, एक ही हैं। फिर एक ही हैं तो इनका कोई संयुक्त नाम भी होना चाहिए, कोई एक साझा नाम भी होना चाहिए। इनका वो साझा नाम है – अहम्, 'मैं' भावना।

हम जब कहें कि मैं इस चीज़ से परेशान हूँ या उस चीज़ से ग्रस्त हूँ या ये चीज़ मुझे पकड़ी हुई है, तो उस परेशानी का एक त्वरित इलाज मिल सकता है अगर हम उसी वक्त पर ज़रा-सा रुक करके, बस पाँच सेकेंड रुक करके ये पूछ लें कि, "कौन परेशान है? ये कौन है जो परेशान है? और जो परेशान है, उसका क्या छिन जाने वाला है? और जिस चीज़ के लिए परेशान है, मान लो पाने के लिए, अगर उसको पा लिया तो क्या मिल जाने वाला है?"

अगर ज़रा-सा ठहर करके बस ये जिज्ञासा कर लें, तो बिल्कुल ज़ाहिर हो जाएगा कि ये जो छह दुश्मन हैं, ये बाहरी नहीं हैं, ये हमारे भीतर ही हैं, और इन छहों दुश्मनों का जो एक नाम है, वो है – अज्ञान; जिज्ञासा न करना। जिज्ञासा करने से उत्तर मिलता है न? उसी का नाम 'ज्ञान' है। अहम् पलता है जिज्ञासा के अभाव में; जिसने पूछा नहीं, जिसने ठहर करके जाँच-पड़ताल नहीं की, उसी के भीतर भ्रम, अँधेरा, अज्ञान घूमता रहता है। जो ज़रा-सा रुक गया और जाँच-पड़ताल कर ली, वो पाता है कि तनाव हो, लालच हो, डर हो—ये तत्काल कम हो गए। मिट नहीं जाएँगे पर कम तुरंत हो जाएँगे। मिटाने के लिए लंबी साधना करनी पड़ती है। और यही सवाल न पूछो तो आदमी अपने ही विकारों के हाथों कठपुतली बना रहता है और परेशानी का कोई अंत नहीं है। कोई कितना भी परेशान हो सकता है।

आदमी ने जैसे-जैसे तरक्की की है, आर्थिक तौर पर, तकनीकी तौर पर, वैज्ञानिक तौर पर, ज्ञान की क्रांति हुई है, सूचना क्रांति हुई है, वैसे-वैसे आदमी का तनाव भी ज़बरदस्त तरीके से बढ़ा है। आम आदमी को जितना तनाव आज से पचास वर्ष पहले हुआ करता था, उससे कई गुना तनाव आज ज़्यादा है। जनसंख्या का जितना अनुपात आज से पचास वर्ष पहले मनोरोगी था, डिप्रेशन या अवसाद और अन्य मनोरोगों की चपेट में था, उससे कई गुना ज़्यादा अनुपात आज मनोरोगी हो चुका है।

और कारण यही है। कारण है कि हम बाहर इतना ज़्यादा देखने लगे हैं, बाहर चीज़ें इतनी ज़्यादा बढ़ गयी हैं, बाहर उलझने के तरीके, बाहर उलझने के विषय इतने बढ़ गए हैं कि भीतर जिज्ञासा करने का हमको वक्त ही नहीं मिलता। हम पाँच सेकंड को भी ये नहीं पूछ पाते, "कौन है जो परेशान है? किसने उसे परेशान होना सिखाया?" हम परेशानी के चक्र में रहते हैं, ये नहीं पूछते कि जिसकी खातिर परेशान हैं, वो इतना कीमती हो कैसे गया? और अगर वो इतना कीमती है तो उसे खो करके मेरा ठीक-ठीक क्या मिट जाना है?

नहीं हुआ काम, क्या चला जाएगा? और हो भी गया, तो मिल क्या जाएगा?

कुछ तो मिलता होगा, मैं इंकार नहीं कर रहा, कुछ खोता भी होगा—पर जो मिलता है या जो खोता है, क्या वो वाक़ई इतना बड़ा है कि उसकी खातिर आदमी अपना चैन गँवा दे? ये पूछना ज़रूरी है।

मैं बिल्कुल नहीं कह रहा हूँ कि हम पागल हैं, विक्षिप्त हैं, और बिना बात के परेशान हो रहे हैं; परेशानी का कुछ सबब तो होगा। जो भी कोई व्यक्ति परेशान है, उसके पास कोई-न-कोई सार्थक कारण होगा। लेकिन उस कारण

की, उस विषय की कुछ सीमाएँ तो होंगीं? हमारी परेशानी कोई सीमाएँ नहीं जानती। (छोटा-सा रिमोट कंट्रोल दिखाते हुए) विषय और कारण हों इतने बड़े, और परेशानी होती है इतनी बड़ी (दोनों हाथ फैलाकर इशारा करते हुए) क्योंकि हम जिज्ञासा नहीं करते। हम ठहर करके पूछते नहीं अपने आप से, अंतर्गमन नहीं करते कि, “बात क्या है?”

अच्छा, यही भीतर से आवाज़ उठ रही है न कि कुछ खोया, कुछ मिटा, कुछ टूटा? चलो, मान लिया कि खो ही गया, मिट गया, टूट गया—जो भी उपक्रम कर रहे थे, नहीं मिली सफलता—नहीं भी मिली सफलता तो क्या चला जाएगा? चलो, कुछ चला जाएगा, जितना जाएगा, उतनी ही चिंता करें। अब पता चला कि जाएगा एक यूनिट (इकाई) और उसके लिए चिंता कर रहे हो हज़ार यूनिट , तो फिर तो जन्म व्यर्थ गँवाया न?

देखिए, हम किन चीज़ो के खोने की परवाह करते हैं? मान-सम्मान, रिश्ते, पैसा, पूँजी—इन्हीं के खोने की परवाह करते हैं न? जो एक हमारा सबसे कीमती संसाधन है, रिसोर्स है, हम उसके खोने की परवाह कम ही करते हैं, आपको थोड़ा ताज्जुब होगा।

अच्छा, आप बताइए, हमारा सबसे कीमती संसाधन क्या है?

प्रः स्वास्थ्य, शरीर।

आचार्यः एक जीव का, एक जीवित आदमी का सबसे कीमती संसाधन क्या है?

प्रः समय।

आचार्यः क्योंकि आप जीवित ही अपने-आपको एक समय तक बोलते हो न? जीवन माने – समय-सीमा; उसके बाद तो अपने-आपको आप जीवित भी नहीं बोलते। एक दिन आती है जब मौत, उठा ले जाती है, उसके बाद तो नहीं कहते कि, "मैं जीव हूँ,” "जीवित हूँ," या कहते हो? तो सबसे कीमती संसाधन क्या है? समय।

अब आप जब गणना करते हो लाभ-हानि की तो उसमें समय को नहीं जोड़ते, जैसे समय की तो कोई कीमत ही न हो। हज़ार रुपए की कोई चीज़ है, उसके लिए आप चार घंटे से चिंता कर रहे हैं। चार घंटे आप सोच रहे हैं, "हज़ार रुपए,” "हज़ार रुपए"। उस चार घंटे की कोई कीमत है या नहीं? उसका भी कोई प्रॉफिट-एंड-लॉस (लाभ और हानि) बनेगा या नहीं बनेगा? आप लोग तो आँकड़ों में सब दक्ष हैं, आपसे पूछ रहा हूँ। गणना करते ही हैं तो पूरी गणना कर लें। आदमी का अगर सबसे कीमती संसाधन समय है, तो हम कभी ये क्यों नहीं देखते कि कितना समय

चिंता में व्यर्थ जा रहा है? समय बर्बाद करने के लिए कोई उल्टा-पुल्टा काम करना ही थोड़ी ज़रूरी है, बैठे-बैठे भी समय बर्बाद किया जा सकता है न? बैठे-बैठे क्या कर रहा है आदमी? चिन्ता कर रहा है।

समय व्यर्थ हुआ कि नहीं?

हमारे कोई हज़ार दो-हज़ार छीन ले, हमें बड़ा बुरा लग जाएगा। और चिन्ता कर-करके हम अपने आठ घंटे खराब कर लें, हमें बुरा ही नहीं लगता, बल्कि हमें लगता है कि हमने कुछ सार्थक काम करा है। और वो आठ घंटे शायद कई लाख की कीमत रखते थे, रखते थे कि नहीं रखते थे? हमारा समय मुफ़्त का है क्या? हमारा समय यूँ ही है क्या? बताइए। नहीं है न? तो फिर उस समय का भी तो ख्याल करिए।

आत्म-जिज्ञासा के अभाव में आदमी अपना सबसे कीमती संसाधन, अपना जीवन ही खोता चलता है। चिंता कर-करके कुछ हासिल भी कर लिया तो ये कभी नहीं समझ पाता कि जो हासिल किया उसकी कीमत क्या, और वह हासिल करने के लिए जो गँवाया, उसकी कीमत क्या!

तो अध्यात्म का क्या मतलब ये नहीं है कि पाओ मत या कमाओ मत; अध्यात्म का मतलब ये है कि अगर हिसाब-किताब लगाते ही हो, गणित और गणना करते ही हो, तो पूरी करो भाई। अध्यात्म माने पूर्णता, तो अध्यात्म में गणना भी पूरी-पूरी होगी: पाया क्या, और लगाया क्या?

और इतना (एक हाथ की उँगलियों से छोटे का इशारा करते हुए) पाने के लिए अगर इतना (दोनों हाथ फैलाकर इशारा करते हुए) लगाया तो क्या मैं बुद्धिमान कहलाया? अध्यात्म नहीं कहता कि बुद्धू बन जाओ, अनाड़ी हो जाओ, तुम्हें कुछ समझ में न आए, सड़क के फ़कीर या भिखारी हो जाओ।

अध्यात्म कहता है – बुद्धिमान हो जाओ, और बुद्धि से भी आगे जो है, उसमें जीना सीखो।

बुद्धि से आगे है – बोध।

बुद्धि तो आधी-अधूरी चीज़ देखती है; बोध पूरी बात देखता है। बुद्धि बस इतना कहेगी कि फलाना काम कर रहा हूँ, इतना रुपया मिल जाएगा। रूपया तो गिनने वाली चीज़ है, स्थूल है न। (रुमाल दिखाते हुए) आप इसको देख सकते हो, गिन सकते हो। ये मिला, तो आप कहोगे कि ये मिला। ये आँखों को दिखाई देता है, हाथ में उठा सकते हो। लेकिन इसकी खातिर गँवाया क्या? वो हम नहीं देख पाते, क्योंकि जो चीज़ गँवायी, वो अक्सर सूक्ष्म होती है, सटल होती है, इनविज़िबल (अदृश्य) होती है।

अध्यात्म कहता है, उसको तो गिनो ही जो विज़िबल (प्रकट) है, स्थूल है, उसको भी तो गिनो जो दिखाई नहीं देता, सूक्ष्म है, अदृश्य है। आनंद दिखाई देता है क्या? (रुमाल को ऊपर उठाते हुए) आनंद को ऐसे हाथ में उठा सकते क्या? पर आनंद की कोई कीमत है या नहीं है? आप कुछ हज़ार या कुछ लाख पा लें और उसकी खातिर आनंद गँवा दें, तो बताइए ये सौदा मुनाफे का हुआ या घाटे का?

कहिए, हमारी ज़िंदगी की बात है।

प्रः घाटे का।

आचार्यः प्रेम तो सभी करते होंगे; परिवार होगा, माँ-बाप होंगे, पति-पत्नी होंगे, बच्चे होंगे। अपने बच्चे के प्रति जो प्रेम होता है, वो ऐसे (पुनः रुमाल ऊपर उठाते हुए) हाथ में उठाया जा सकता है क्या? आप दिखा सकते हो, ये रहा प्रेम? पाँच-सौ ग्राम प्रेम! दिखा सकते हो क्या? तो अदृश्य है न प्रेम? लेकिन उसकी कोई कीमत है या नहीं? आपको एक लाख रुपया मिल जाए और आपकी ज़िंदगी से प्रेम गायब हो जाए, तो ये सौदा लाभ का हुआ या हानि का हुआ?

ज़ोर से बोलिए।

प्रः हानि का हुआ।

आचार्यः हानि का हुआ। हमारी बड़ी-से-बड़ी हानि करते हैं ये षड-रिपु। ये हमें जो ग्रॉस (स्थूल) है, जो मोटा-मोटा है, उसको दिखाते रहते हैं, और जो छुपा हुआ है, सूक्ष्म है, पर बहुत कीमती है, उसको देखने नहीं देते। और आदमी अपनी पूरी ज़िंदगी घाटे में बिताकर एक दिन खत्म हो जाता है। वो सोचता भले ही यही रहता कि ये है मेरी ज़िंदगी का गणित—इतना पाया इतना गँवाया, और उसमें नेट (कुल) उसको दिखाई दे रहा है प्रॉफिट ही, कि, "अरे, वाह! प्रॉफिट!" पर उसने ये जो ख़ाका खींचा है, उसने ये जो गणित लगाया है, ये गलत है, क्योंकि इसमें उसने कुछ एंट्रीज़ (प्रविष्टियाँ) करी ही नहीं हैं।

आपके सामने कोई स्टेटमेंट आता है, बैंक स्टेटमेंट आ गया जिसमें कुछ एंट्री ही गायब हैं, तो आप बैंक को पकड़ते हो न कि ये क्या गड़बड़ है? बोलो। इसी तरीके से आप अपनी ज़िंदगी का जब लाभ-हानि का गणित लगाओ, तो उसमें एक-एक एंट्री होनी चाहिए न? स्थूल भी, सूक्ष्म भी; विज़िबल (प्रकट) भी, और इनविज़िबल (अप्रकट) भी तो होनी चाहिए। वो इनविज़िबल वाली हम छुपा जाते हैं! और इनविज़िबल जो एंट्रीज़ हैं, वो सबसे बड़ी हैं, सबसे कीमती हैं। और वो प्रॉफिटेबल (लाभकारी) ही हैं; वो प्रॉफिट हमसे छीन लेते हैं ये सब—भय, मोह, मद, मात्सर्य।

कुछ भी आप कर रहे हो, दिमाग पर ईर्ष्या नाच रही है, आप जो कुछ भी कर रहे हो, आपसे ठीक से होगा क्या? सही-सही बताइए, होगा?

प्र: नहीं।

आचार्य: जो कुछ भी कर रहे हो तनाव में बैठकर कर रहे हो, वो ठीक से कर पाओगे क्या? अच्छा छोड़ो कि व्यावसायिक काम, दफ्तर का काम, घर पर किसी से बात भी कर रहे हो, और तनाव में कर रहे हो, उस बातचीत में क्या गुणवत्ता बचती है? या बचती है? नहीं बचती न? लेकिन ठीक उस वक्त कोई बताने नहीं आएगा कि तुमको अभी-अभी पाँच हज़ार का नुकसान हो गया। आपने किसी से बातचीत करी घर में, मान लीजिए अपने पिता से करी, अपनी पत्नी से करी, और वो बातचीत सतही थी, उसमें कोई गुणवत्ता, कोई गहराई नहीं थी—ठीक उसी वक्त कोई खनखनाकर बताता है कि ये जो तुमने पंद्रह मिनट व्यर्थ कर दिए एक सतही बातचीत में, ये दस हज़ार का घाटा है! कोई बताता है क्या? नहीं बताता न? क्योंकि हर चीज़ रुपयों के आधार पर अभिव्यक्त भी नहीं की जा सकती।

और हम लोग ऐसे हैं जिनको आँकड़े ही समझ में आते हैं। दिक्कत ये है कि प्रेम हो, आनंद हो, सरलता हो, मुक्ति हो—ये सब आँकड़ों में आसानी से अभिव्यक्त नहीं हो सकते। चूँकि आँकड़ों में अभिव्यक्त नहीं हो सकते, तो हमको लगता है कि इनकी कोई हस्ती ही नहीं है, इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। हम संख्याओं के पुजारी हैं। हर वह चीज़ जो संख्या में लिखी जा सकती हो, हमको लगता है कि असली है, और जो चीज़ें संख्या में अभिव्यक्त नहीं हो सकतीं, हमको लगता है कि उनका कोई मूल्य ही नहीं है। तो हम उनको अलग कर देते हैं, हम उनको अपने हानि-लाभ के गणित में शामिल ही नहीं करते। ये तो बड़ी गलती हो गयी न?

एक बड़े संत हुए, उनका नाम है पलटू दास। कम लोगों ने सुना होगा, पर बड़े महिमावान। तो उनका एक वचन है कि,

सांई मेरा बाणियां, सहजि करै ब्यौपार। बिन डांडी बिन पालड़ैं, तोले सब संसार।।

वो जो मेरा परमात्मा है, वो वास्तव में एक बनिया है, और वो बड़ा व्यापार करता है। लेकिन बिना किसी तराज़ू के, बिना पलड़ों के, बिना वज़न के, वो पूरे संसार को तोले हुए है।

~ संत पलटूदास

तो परमात्मा भी उसको कहा गया है जो 'तोलना' जानता है। 'तोलना' माने समझते हैं? कीमत लगाना। आप जब सब्ज़ी खरीदने जाते हो और तोली जाती है, तो वास्तव में क्या किया जा रहा है? उसकी कीमत लगाई जा रही है न कि

अगर ढाई किलो है तो इतनी कीमत होगी। तो समझ लो वो परमात्मा हो गया जिसको सही-सही तोलना आ गया, यानि जिसको सही-सही वज़न करना, मूल्य करना आ गया।

हमें अपने आप से पूछना होगा, “हम कितना जानते हैं वज़न करना और मूल्य करना?”

क्रोध से हमें जो हानि होती है, हम कभी उसका मूल्य कर पाए? कितने रुपए की हानि हुई है आज तक क्रोध से, बताइए? किसने करा है मूल्य, बताइए? ये सब जानते होंगे कि घर बनवाया तो उसमें कितने रुपए लग गए, पर ये किसी को नहीं पता होगा कि क्रोध में या कामवासना में कितने का नुकसान कर लिया। है किसी को पता? दुश्मन छुपा हुआ है, भीतर-ही-भीतर नुकसान दे रहा है। हम सोचते है कि हम बड़े चतुर हैं, बाहर वाली चीज़ें तो पकड़े हुए हैं न!

बाहर वाली चीज़ें अगर लाख की हैं तो भीतर वाली चीज़ करोड़ की है। जो बाहर वाली चीज़ो में फँस करके भीतर वाली चीज़ को भूल गया, उसे अच्छा व्यापारी या अच्छा मुनीम, अच्छा अकाउंटेंट , अच्छा अफसर, अच्छा प्रबंधक— उसे कुछ भी नहीं 'अच्छा' कहा जा सकता। तो गणित ही गलत कर दी न। गणित के सवाल में उत्तर अगर गलत आया है तो नंबर नहीं मिलने के। आपने इतना लंबा उसमें प्रक्रिया दिखाई होगी, एक के बाद एक स्टेप (क्रम) दिखाई होगी कि समीकरण ऐसे हल किया, पर उत्तर गलत आया है तो क्या मिलता है? और मिलेगा भी तो कुछ दस में से दो नंबर, तीन नंबर, इससे ज़्यादा थोड़े ही मिलेगा, या मिलेगा?

हम भी ऐसे ही हैं। लेकिन हमारे लिए राहत की बात ये है कि सब कुछ बदला जा सकता है पाँच सेकंड की जिज्ञासा से। ये जो छह दुश्मन हैं, ये जब भी चढ़ें, तो क्या करना है? पाँच सेकंड के लिए रुक जाना है। बहुत ज़्यादा नहीं, पाँच सेकंड के लिए। और सवाल बस यही पूछ लेना है:

जिसके प्रति काम उठ रहा है , अगर उसको पा लिया तो वास्तव में क्या पाया? और नहीं पाया तो क्या गँवाया?

जिसके प्रति क्रोध उठ रहा है , अगर उसको दबा भी दिया, उसको अगर कुछ हानि पहुँचा भी दी, तो मुझे क्या मिल गया? और नहीं भी हानि पहुँचाई, तो खो क्या दूँगा भाई?

जिसके भी प्रति मात्सर्य अर्थात ईर्ष्या उठ रही है , उससे आगे भी निकल गए, तो किससे आगे निकल गए? वो कोई अपने अगल-बगल का ही तो है, उससे आगे निकल करके पा क्या जाएँगे? जब से इतने से थे, पढ़ने जाते थे, तब से तो ईर्ष्या में हैं। दूसरी कक्षा में पढ़ते थे, तब भी किसी से ईर्ष्या हुई, कि अरे उसके नंबर ज़्यादा आ गए; चौथी में थे तो देखा कि किसी की पेंट (पतलून) हमसे ज़्यादा अच्छी है, उससे ईर्ष्या हो गयी। थोड़े बड़े हुए तो देखा किसी की डिग्री

हमसे ज़्यादा अच्छी है, उससे हो गयी। थोड़े और बड़े हुए तो देखा कि किसी की पत्नी ज़्यादा अच्छी है, उससे ईर्ष्या हो गयी। फिर देखते हैं किसी की कमाई ज़्यादा अच्छी है, किसी के लड़के-बच्चे ज़्यादा अच्छे हैं, किसी का घर ज़्यादा बड़ा है, उससे ईर्ष्या हो गयी।

क्या मिल गया इन चीज़ों से?

ये पाँच सेकंड बड़े काम की चीज़ हैं। ये पाँच सेकंड पूरा जीवन बचा सकते हैं। जीवन अनगिनत सेकंडों का है, पाँच सेकंड के निवेश से अगर वो बचता हो तो क्या बुरी बात?

ये व्यापार कुछ हुआ फायदे का, कि नहीं हुआ?

आज दुश्मन छुपा हुआ है

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, प्रणाम। कल आप बोल रहे थे कि शहीद भगत सिंह के समय पर एक शत्रु था, और वो अंग्रेज़ थे। ये बात उनको पता थी। अपने शत्रु के बारे में उन्हें पता था। इन दिनों अनेक शत्रु हैं, और पता भी नहीं है कि वो हैं कौन। कृपया इशारा करेंगे कि वो कौन हैं?

आचार्य प्रशांत: नहीं, मैंने एक-अनेक नहीं कहा था, मैंने प्रकट-अप्रकट कहा था। मैंने कहा था कि शत्रु प्रकट था, अभी अप्रकट है।

प्र: तो वो अप्रकट शत्रु कौन है अभी इन दिनों?

आचार्य: उन सब चीज़ों पर ध्यान दीजिए जिनपर हमारा आज का जीवन आधारित है। उनमें बताइएगा कितना प्रकट है और कितना अप्रकट है।

कहाँ से शुरुआत करूँ? कहीं से भी कर सकता हूँ। चलिए, यहीं से कर लीजिए। सौ साल पहले अगर आप माँस खाते

थे तो आपको दिखाई पड़ता था कि जानवर का वध किया जा रहा है, और जानवर खड़ा है, गला कट रहा है, वो चीत्कार कर रहा है, खून बह रहा है, पंख नोचे जा रहे हैं, या हड्डियाँ हटाई जा रही हैं। ये सब दिखता था। अभी बहुत सुंदर डब्बा आ जाता है पैकेज्ड मीट का, और वो आप ऑनलाइन ऑर्डर कर सकते हैं। और नई-नई स्टार्टप्स निकल रही हैं जो आपको ऑनलाइन पैकेज्ड मीट देती हैं, और वो बड़ा सुंदर लगता है। पीछे की बर्बरता छुपा दी गई। पहले दिखती तो थी कि मारा जा रहा है, वध हो रहा है।

अब तो चाहे तुम जूते का डब्बा मंगवाओ या माँस का डब्बा, वो एक-से ही दिखते हैं। बहुत साफ-सुथरा मामला होगा, बड़ी सुव्यवस्थित दुकान होगी, उसपर लिखा होगा - 'फ्राइड चिकन'। और वहाँ साफ कपड़ों में वेटर आदि कर्मचारी घूम रहे होंगे, एयर कंडीशनिंग चल रही होगी, बढ़िया रोशनी होगी, संगीत भी चल रहा होगा, साफ-सुथरे सजे-सँवरे हुए लोग होंगे। उसमें कहीं ये प्रकट है कि असली धंधा क्या है? कहीं प्रकट है? आपको ख्याल भी आता है उस वक्त क्या? बोलिए। आता है क्या?

बहुत बातें हैं, मैंने बस शुरू यहाँ से किया। अभी और बातों पर भी आ सकते हैं।

तब नहीं जाते थे इतनी छुट्टियाँ मनाने लोग, अब आप जाते हो। और आप हवाई जहाज़ पर चल देते हो। वो हवाई जहाज़ कितना कार्बन छोड़ रहा है, ये कहीं से प्रकट है क्या? प्रकट क्या है? प्रकट बस ये है कि हॉलीडे हो रहा है है; एयरपोर्ट बढ़िया था, साफ था, चिकना था; हवाई जहाज़ कितनी उन्नत तकनीक का लग रहा है। फिर एयरपोर्ट पर उतरे, फिर होटल पहुँच गए, सब कितना साफ-सुथरा। और जो गंदगी की गई है, क्या वो प्रकट है? और वो गंदगी हमें बर्बाद कर रही नहीं है, कर चुकी है।

आप चिप्स खा रहे हो, चिप्स। सब अच्छा ही अच्छा है। क्या ये प्रकट है कि उस चिप्स के कारण हज़ारों ओरांगुटान मारे गए हैं? आप कहोगे, "अरे! पर ये तो आलू के चिप्स हैं, ओरांगुटान का माँस थोड़ी ही है।" ये प्रकट थोड़े ही है कि वो आलू के चिप्स जिस पाम ऑयल से बन रहे हैं, उस पाम ऑयल के लिए जंगल काटे गए। और उन जंगलों में ओरांगुटान रहता था, वो खत्म ही हो गया, बचा ही नहीं! आप तो कह रहे हो, "मैं तो चिप्स खा रहा हूँ"। अब प्रकट थोड़े ही है कि वो चिप्स नहीं है, ओरांगुटान का खून है। प्रकट है?

तो ये फर्क है आज से सौ साल पहले और आज के समय में। आज सब कुछ ऊपर-ऊपर से चिकना-चुपड़ा है। आपको दिखाया ही नहीं जा रहा कि आप कितना क्रूर, बर्बर, और घटिया जीवन जी रहे हो!

आप किसी दफ्तर में काम करते हो। आपको लगता है कि मैं तो सॉफ्टवेयर फर्म में काम करता हूँ। और बढ़िया, सब ऐसे ही चिकना-चुपड़ा, सुंदर-सुंदर, साफ-साफ। बड़े सभ्य तरीके से काम हो रहा है। कोई भी आपसे चिल्लाकर बात नहीं कर रहा। आपके सब अधिकारों की सुरक्षा की जा रही है। आपको लग रहा है कि मैं तो बड़ी उन्नत, कटिंग

एज इंडस्ट्री में काम करता हूँ; ब्लीडिंग एज। आपको पता भी है आप जो सॉफ्टवेयर लिख रहे हो उसका उपयोग किस काम के लिए हो रहा है? पता है? अप्रकट है न। छुपा हुआ है! आप तो मौज में अपनी तनख्वाह लेकर घर आ गए। आपको पता भी है आप जो आप कर रहे हो वो दुनिया को बर्बाद करने के काम आ रही है चीज़?

सब अप्रकट है।

सौ साल पहले, दुनिया के शीर्ष दो-प्रतिशत अमीरों के पास जितनी दौलत थी, आज उससे हज़ार गुना ज़्यादा है। जिसे गिनी गुणांक कहा जाता है, वो बद-से-बत्तर होता जा रहा है। पर आप तो जाकर के अपने मालिकों के लिए दफ्तर में काम कर आते हो न, बिना ये देखे कि आप जो काम कर रहे हो वो किसी अमीर आदमी को और अमीर बना रहा है। आप तो कहते हो, "नहीं, मेरी तो बड़ी प्रोफेशनल और रिस्पेक्टबल वर्कप्लेस है। बड़ी मॉडर्न कंपनी है मेरी। और जितने भी लिबरल प्रिंसिपल्स होते हैं, सबका पालन करती है।"

ये आपने कभी देखना चाहा कि कुल मिला-जुला करके आपके सारे काम का नतीजा क्या निकल रहा है? ये निकल रहा है कि दुनिया की सारी ताकत कुछ चंद हाथों में केंद्रित होती जा रही है।

सब अप्रकट है।

जो प्रकट है, वो छल है, छलावा है, धोखा है।

प्रकट ये है कि बहुत सुंदर मंदिर बनाया गया है। अप्रकट ये है कि वहाँ पहले जंगल हुआ करता था जिसको काटकर वो मंदिर बनाया गया। लेकिन आप गुरुदेव की पूजा करे ही जा रहे हैं।

हमारे पास वो आँखें ही नहीं हैं जो उसको भी देख पाएँ जो बताया नहीं जा रहा, जो छुपा हुआ है। हम बस उतना ही देखते हैं, उतना ही सुनते हैं जितना हमारे कानों में मीडिया डाल देता है। जितना हमारी आँखों को दिखाई पड़ जाता है। हम ऐसे डंब (मूर्ख) हो गए हैं कि अपनी छोटी दुनिया, अपने छोटे स्वार्थों के आगे कुछ देख-सुन ही नहीं पाते।

पहले तो दुश्मन सामने था और दुश्मन में इतनी ईमानदारी थी कि बता देता था कि "मैं तुम्हारा दुश्मन हूँ"। आज तो जो आपका दुश्मन है, वो आपके घर में घुसकर बैठा हुआ है, आपका हितैषी बनकर बैठा हुआ है। आप उसी का पानी पी रहे हो, उसी की नौकरी कर रहे हो, उसी की रोटी खा रहे हो, उसी को टीवी में देख रहे हो, उसी का बनाया टीवी खरीद रहे हो। आप पूरे तरीके से अपने दुश्मन की गिरफ्त में हो।

और तो और, खौफ़ होगा आपको, उसी के अनुसार आप जीवन जी रहे हो, उसी के अनुसार शादी कर रहे हो, उसी के अनुसार बच्चे पैदा कर रहे हो, जी भी उसी के मुताबिक रहे हो, मर भी उसी के कहे रहे हो। तुम्हारा खाना-पीना तुम्हारा दुश्मन निर्धारित करता है। तुम्हारे पति-पत्नी तुम्हारा दुश्मन निर्धारित कर रहा है। तुम्हारी एक-एक साँस पर किसी बाहरी ताकत का कब्ज़ा है जो तुम्हें बस लूट रही है, और तुम्हें पता भी नहीं।

इसलिए धर्म-युद्ध चाहिए। इसलिए कह रहा था कल कि आओ और साथ दो। और मैं ये भी समझता हूँ कि साथ देना उन लोगों के लिए थोड़ा मुश्किल हो जाता है जो जीवन के तमाम तरह के बंधनों और तथाकथित जिम्मेदारियों में बंध गए हैं। इसलिए मैंने कहा था, युवाओं का आह्वान किया था कि तुम आओ।

प्र: जब हमको ये चीज़ें समझ आ जाती हैं, दिखने भी लग जाती हैं, और हम हेल्पलेस महसूस करते हैं इन्हीं सब चीज़ों की वजह से...

आचार्य: हेल्पलेस इसलिए महसूस करते हो क्योंकि भोगना है। हेल्पलेस तुम इसलिए थोड़ी महसूस करते हो कि दुश्मन ताकतवर है। हेल्पलेस इसलिए महसूस करते हो क्योंकि तुम्हारे स्वार्थ बड़े हैं, तुम्हें सुविधाओं की लत लगी है। उन्हें तुम छोड़ नहीं सकते। तुम्हें वही सब उत्पाद चाहिए, पैसा चाहिए, रुपया चाहिए, सुविधाएँ चाहिए, इसलिए हेल्पलेस हो। अपने हाथों मजबूर हो।

प्र१: अगर कुछ भी करना चाहें, छोटे-से-छोटा...

आचार्य: तो उसकी कीमत अदा करो। कीमत अदा करने से क्यों डरते हो?

प्र२: क्या इस समस्या के केंद्र में उपभोक्तावाद है या उससे भी ज़्यादा कुछ जटिल है?

आचार्य: देखो, उपभोक्तावाद कोई नई चीज़ नहीं है। भोगने की वृत्ति तो आदमी में सदा से थी। अभी तो बस इतना हुआ है कि ज्ञान संचित होते-होते उस अवस्था में पहुँच गया है जहाँ तुम जितना चाहो भोग सकते हो। आदमी भोगना सदा से चाहता था, पर मजबूरी थी, पूरा भोग नहीं पाता था। जो कुछ चाहिए, उतना उपलब्ध ही नहीं था। अब पहले भाप आ गई, स्टीम आ गई, इंडस्ट्रियल रिवॉल्यूशन हो गया, फिर इंटरनेट आ गया। अब इतनी वस्तुएँ हैं भोगने के लिए कि जितना चाहो उतना भोग सकते हो।

ये जो दुनिया की इतनी आबादी बड़ी हुई है, ये भोगने का ही तो परिणाम है, और ये भोगने के लिए ही पैदा हो रही है। समझना बात को। ये जो आठ सौ करोड़ लोग हैं, ये भोगने से ही आए हैं और भोगने के लिए ही आए हैं। क्यों? क्योंकि विज्ञान ने और तकनीक ने न जाने कितनी सम्भावनाएँ पैदा कर दी हैं।

लेकिन वो सम्भावनाएँ, भूलो मत, कि बहुत बड़ी कीमत पर आ रही हैं। तुम जो चिप्स भोग रहे हो, याद रखना अभी क्या बताया था, वो किसी की लाश से आ रहा है। ये जो तुम चीज़ खा रहे हो, ये यूँ ही नहीं आ जा रहा है। इसको तुम तो देखते हो और कहते हो कि चीज़ ही तो है, उसके पीछे क्या है, ये तुम्हें पता ही नहीं चलता। ये जो जूता पहन लेते हो, कहते हो कि जूता ही तो है, उसके पीछे क्या है, ये तुम्हें पता ही नहीं चलता।

हम स्वयं को भी बर्बाद कर चुके हैं, इस पृथ्वी को भी बर्बाद कर चुके हैं, आने वाली पीढ़ी तो बर्बाद कर ही दी पूरी।

पहले एक बात और होती थी, आदमी की भोगने की वृत्ति पर धर्म अंकुश लगाता था। आज के समय में एक और ऐसी घटना हुई है जो इतिहास में हैरतअंगेज है, एकदम अनूठी है: आज के धर्मगुरु भोग को प्रोत्साहन दे रहे हैं। उनकी हिम्मत ही नहीं है कि खुलकर कह पाएँ कि तुम्हारा भोगना तुम्हें बर्बाद कर रहा है। लोग भोगने को इतने आतुर हैं कि उन्हें पता है कि भीड़ जुटेगी ही नहीं अगर हमने भोग के खिलाफ कुछ बोल दिया। तो वो लोगों के भोग को ही प्रोत्साहित करते हैं।कोई बताता है कि, "इतना संभोग करो, इतना संभोग करो कि तुम्हें मुक्ति मिल जाए"। कोई बताता है कि, "नहीं, जो कुछ चल रहा है, दुनिया बिल्कुल ठीक चल रही है। इसी दुनिया के दायरे में रहकर के और आगे बढ़ो, तरक्की करो, उन्नति करो।"

जब धर्मगुरु ही भोग के समर्थन में खड़े हुए हैं, तो फिर अब भोग पर अंकुश कौन लगाएगा? विज्ञान भोगने के अवसर दिए जा रहा है, और धर्म भोगने को प्रोत्साहित कर रहा है। विज्ञान भोगने के लिए तुम्हें वस्तुएँ दिए जा रहा है। वास्तव में विज्ञान भी नहीं दे रहा। विज्ञान का तुमने जो दुरुपयोग किया है, जो टेक्नोलॉजी लगाई है, वो दे रही है। तो वस्तुएँ आई जा रही हैं, आई जा रही हैं। और उस भोग को रोकने का जो ऐतिहासिक तरीका रहा है, वो तरीका आज विफल हो गया।

देखो न, अभी सब जो गुरु लोग हैं उनको। वो इस बात में शान समझते हैं कि दिखाएँ कि हम भी तो भोग सकते हैं न। ये रहा हमारा हेलीकॉप्टर, ये रहा हमारा प्लेन, ये रही हमारी एडवांस्ड मोटरबाइक। हमारे चश्मे देखो, अँगूठियाँ देखो, हमारे महल देखो। और इतना ही नहीं, उनकी व्यापारियों से गहरी सांठ-गांठ हो गई है।

शरीर के तल पर देखो तुम किसको भोगते हो? शरीर के तल पर तुम भोगते हो रूप को, सौंदर्य को। तो तुम पाओगे कि धर्मगुरु सिनेमा के अभिनेता और अभिनेत्रियों के साथ नज़र आ रहे हैं। अगर वो चर्चा सात्विक हो तो बढ़िया बात है, पर अक्सर उस चर्चा में सिर्फ ये संदेश होता है कि धर्मगुरु भी देखो भोग को, रूप को, लावण्य को मान्यता दे रहा है। ये संदेश गलत है।

इसी तरीके से धर्मगुरु नज़र आ रहे हैं व्यापारियों के साथ, राजनेताओं के साथ। ये बड़े-से-बड़ा पाप है।

धर्म का काम था समाज को दिशा देना, सही दिशा देना। धर्म का काम था अर्थ पर, काम पर अंकुश लगाना। है न? पर जो लोग कामवासना को भड़काते हों, धर्म अगर उनके बगल में बैठा नज़र आए तो? जो अर्थ-पशु हों, पैसा ही कमाना जिनका प्रयोजन हो, धर्मगुरु उनके बगल में बैठा नजर आए तो? धर्म अब कैसे अंकुश लगाएगा वासना पर और लोभ पर?

नतीजा ये हुआ है, कुल मिला-जुला के कि भोग को अब एक नैतिक स्वीकृति भी मिल गई है। न संयम बचा है, न लज्जा बची है। अब तुम्हारा अहंकार खुलेआम अपना नंगा-नाच दर्शा सकता है, कोई रोक नहीं है।

इस सब से लड़ना ज़रूरी है, भले ही हार मिले। इस समय और कोई काम करा भी नहीं जा सकता है, यही काम करना है। ये काम होगा, नतीजा चाहे जो निकले।

प्र: आचार्य जी, जैसे दूध है और दूध से बने जो प्रोडक्ट हैं, उनके कारण पशुओं का शोषण हो रहा है और वो हमारे लिए इतने लाभकारी भी नहीं हैं। गांव में या किन्हीं जगहों पर पशुओं को बड़े प्यार से रखते हैं, उनके खाने-पीने का ध्यान रखते हैं, उनकी पूरी सेवा करते हैं, उनके बच्चों का ध्यान रखते हैं, और उससे जो दूध मिलता है उसको अपने लिए इस्तेमाल कर लेते हैं। क्या वो भी गलत है या ये ठीक है?

आचार्य: कम गलत है, पर गलत फिर भी है। तुम पशु का इस्तेमाल व्यावसायिक दोहन के लिए करोगे, उसका दूध इधर-उधर बेच रहे हो, वो गलत है। उससे ज़्यादा गलत है कि उसका वध ही कर डालो। और उससे कम गलत ये है कि पशु को रखा हुआ है और उसको दाना-पानी दे रहे हो और उसके दूध का खुद इस्तेमाल करते हो। ये कम गलत है पर गलत तो ये भी है। कोई तुमको कैद में रख ले और तुम्हें खूब दाना-पानी दे, लेकिन तुमसे कहे कि तुम रहो वैसे ही, जिओ वैसे ही जैसा हम चाहते हैं, तो स्वीकार करोगे? वो कहेगा कि दाना-पानी खूब देंगे। मानोगे?

प्र: नहीं

आचार्य: पशु की जगह जहाँ है, पशु को वहीं होना चाहिए। प्रेमपूर्वक तुमने किसी को रख लिया, ये एक बात है। दूध के लिए किसी को रख रहे हो, ये बिल्कुल दूसरी बात है।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2019)

रिवॉल्वर बचाकर रखो, असली दुश्मन दूसरा है

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, जीवन की छोटी-छोटी बातों में भी भ्रमित रहता हूँ कि क्या करना उचित है और क्या अनुचित।

आचार्य प्रशांत: एक फिल्म देखी थी मैंने। उसमें समझ ही में न आए कि नायक इतना पिट क्यों रहा है। पिक्चर का क्लाइमेक्स है, चरम पर पहुँच चुकी है। दुश्मनों के गढ़ में घुसा हुआ है हमारा नायक, और उसके हाथ में रिवॉलवर भी है। और लोग आ रहे हैं, उसको पीट रहे हैं। वो उनका मुकाबला भी कर रहा है तो खाली हाथ। वो उसको तरह-तरह के हथियारों से मार रहे हैं। वो उनका मुकाबला भी कर रहा है तो निहत्था होकर के। जबकि उसकी जेब में रिवॉल्वर है। वो भरसक कोशिश ये कर रहा है कि बचा लूँ अपने-आपको। जितना कम-से-कम लड़ना पड़े, उतनी कम-से-कम लड़ाई कर रहा है। हालांकि, दूसरे पक्ष के लोग उससे उलझने को बड़े आमादा हैं। वो तो चाहते ही हैं कि उसको रोक लें। वो रुकना नहीं चाह रहा।

जब तक वो पिट रहा था तब तक भी बात बर्दाश्त के भीतर थी। एक दृश्य आता है जिसमें उसको गोली ही मार देते हैं। उसको गोली मार देते हैं, वो फिर भी रिवॉलवर बाहर नहीं निकाल रहा है। वो किसी तरीके से अपने-आपको बचाए-बचाए आगे बढ़ रहा है। उसे दुश्मन के दुर्ग के शिखर तक पहुँचना है। वो बढ़ता ही जा रहा है, पिटता जा रहा है, गोली खाता जा रहा है, और आगे बढ़ता जा रहा है। और ये बात बड़ी विचित्र लग रही है कि ये इतना कम विरोध क्यों कर रहा है? ये जो लोग इसको मार रहे हैं, घायल कर रहे हैं, ये भी उनको घायल क्यों नहीं कर देता? और नायक है भई हमारा। बाहुबल भी है उसमें और रिवॉल्वर बल भी है। पर वो तो ये दिखाई दे रहा है कि कम-से-कम विरोध करते हुए, कम-से-कम उलझते हुए सीधा आगे बढ़ रहा है। कई गोलियाँ खा लेता है वो।

अंततः वो जो प्रति नायक है, खलनायक है, जो चीफ विलेन है, उस तक जा पहुँचता है। फिर वो अपना रिवॉल्वर निकालता है, कैमरा रिवॉल्वर की मैगज़ीन पर ज़ूम करता है, और पता चलता है कि उसके पास गोली बस एक थी। और वो प्रमुख नायक के माथे पर, कनपटी पर लगाकर के गोली दाग देता है।

उसने किसी से उलझना बर्दाश्त ही नहीं किया क्योंकि उसके पास गोली एक है और उसको पता है कि उस गोली का इस्तेमाल कहाँ करना है, और कहीं वो उस गोली का इस्तेमाल करेगा ही नहीं। बाकी जगहों पर उलझना भी पड़ा तो

अपनी न्यूनतम ऊर्जा व्यय करेगा, कम-से-कम उलझेगा क्योंकि उसे आगे बढ़ना है। उसे पता है कि असली दुश्मन कौन है; बाकियों को तो जानता है कि गुर्गे हैं, प्यादे हैं, इनसे उलझ कर क्या मिलेगा?

मूर्ख होते हैं जो प्यादों से उलझते हैं। रिवॉलवर बचाकर रखो, असली दुश्मन दूसरा है। गोली एक ही है तुम्हारे पास, उसको ज़ाया मत करो, बर्बाद मत करो। और जो असली दुश्मन है, वो तो ये चाहता ही है कि तुम अपनी ऊर्जा को, अपने अस्त्र को गलत जगह पर व्यय कर दो।

महाभारत याद है न? कर्ण के पास शक्ति थी। उसके पास एक विशिष्ट बाण था जो उसने अर्जुन के लिए संभालकर रखा हुआ था। कृष्ण ने घटोत्कच से खूब उपद्रव कराया, बड़ी मारकाट करवाई, ताकि कर्ण को उस शक्ति को घटोत्कच के ऊपर व्यय करना पड़ जाए। घटोत्कच मारा गया, कृष्ण मुस्कुरा दिए, बोले, "अब अर्जुन सुरक्षित है"। घटोत्कच की मृत्यु कर्ण की हार थी।

कौरव सेना ने बड़ी खुशी मनाई, दुर्योधन ने बड़ा धन्यवाद दिया कि, "भला किया, मित्र कर्ण, जो तूने घटोत्कच को मार दिया"। कर्ण दुःखी था। कर्ण ने कहा, "मैंने घटोत्कच को नहीं खुद को मार दिया। इस शक्ति का इस्तेमाल सिर्फ अंतिम लक्ष्य पर होना चाहिए था। इस शक्ति का इस्तेमाल सिर्फ आखरी मंज़िल पर होना चाहिए था। वो शक्ति रास्ते में ही बर्बाद हो गई। तुम खुशी किस बात की मना रहे हो? ये घटोत्कच नहीं मर रहा, दुर्योधन, ये मैं मर रहा हूँ।" ऐसा कर्ण ने कहा।

तुम्हारे पास भी शक्ति है जिसको तुम इधर-उधर के छोटे-मोटे लड़ाई-झगड़ों में बर्बाद कर देते हो। हमारी पिक्चर के नायक को याद रखना। वो पिटता रहा, अपमान सहता रहा, घूँसे खाता रहा, लात खाता रहा, यहाँ तक की गोलियाँ भी खाता रहा लेकिन उलझा नहीं। वो अपनी रिवॉल्वर को बचाए-बचाए सीने से लगाए-लगाए आखिरी दुश्मन तक पहुँचा और वहाँ उसने चलाई गोली।

देने वाले ने तुम्हें भी आखिरी दुश्मन को परास्त करने के लिए पर्याप्त शक्ति दी है, पर्याप्त बल दिया है। तुम्हारे भी रिवॉल्वर में एक वो गोली है जो तुम्हारे सबसे बड़े दुश्मन को मार सकती है। तुम्हारे भी तरकश में एक वो शक्ति है जो तुम्हारे सबसे बड़े शत्रु को संघार सकती है। लेकिन तुम अपने तरकश के तीर को गलत जगह चला देते हो। तुम अपनी गोली को, बुलेट को, दुश्मन के प्यादों और गुर्गों और छोटे-मोटे लोगों से उलझने में बर्बाद कर देते हो। उसका नतीजा ये होगा कि जब असली दुश्मन तुम्हारे सामने आएगा तब तुम्हारे पास उसका सामना करने के लिए कोई बल, कोई सामर्थ्य, कोई अस्त्र नहीं होगा। फिर तुम हारते हो और बहुत बुरी तरह हारते हो।

तुम्हारी सारी हारे हैं ही इसीलिए क्योंकि तुम्हें जो ताकत मिली थी वो तुमने प्यादों पर बर्बाद कर दी।

प्यादों से मत उलझो।

सोचो, कितना क्रोध आ रहा होगा हमारे नायक को जब वो पिट रहा होगा। गहन इच्छा तो उसे भी उठती होगी न कि ये मुझे इतना मार रहे हैं, क्यों न अभी रिवॉल्वर निकाल ही दूँ और गोली चला ही दूँ? उसको भी तो उत्तेजना, ताप, क्रोध आता होगा न? बदला लेने का उसका भी तो जी करता होगा। पर ये होता है इंद्रजीत, वो अपनी इंद्रियों को जीते हुए है। बड़ी इच्छा हो रही है कि पलटकर वार कर दे। वो कह रहा है कि पलटकर वार नहीं करूँगा। वार तभी करूँगा जब आखिरी लड़ाई होगी। उससे पहले मैं बर्दाश्त करने के लिए राज़ी हूँ।

तुम छोटी-छोटी बात में वार कर देते हो, हाथ चला देते हो, बहस कर लेते हो। तुम्हारा रिवाल्वर तो कब का खाली हो चुका, अब जब शैतान सामने आएगा तो कैसे लड़ोगे? और शैतान अट्टहास करेगा, वो कहेगा, "ये देखो, मेरे दो-कौड़ी के सिपाहियों के ही सामने तुम अपनी सारी ऊर्जा चुका आए हो। अब तुम खोखले हो, ऊर्जाहीन हो, बलहीन हो। मेरा सामना करने के लिए तुम्हारे पास अब कुछ नहीं बचा।"

अध्यात्म में संयम का विशेष महत्व है। और अध्यात्म में सूरमाओं का भी विशेष महत्व है। तुमने कभी सोचा नहीं कि एक तरफ तो इतना सिखाया जाता है तितिक्षा, संयम, धैर्य, और दूसरी तरफ अध्यात्म में ही ये भी कहा जाता है कि तुम्हें सूरमा होना चाहिए, बड़ा लड़ाका होना चाहिए। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं हैं; ये दोनों बातें साथ-साथ चलती हैं।

छोटी लड़ाईयों में संयम रखो, छोटी लड़ाईयों में हार जाओ। स्वेच्छापूर्वक हार जाओ। और बड़ी लड़ाईयों में सूरमा बन जाओ। ये दोनों बातें साथ-साथ ही चलेंगी। छोटे मुद्दों की अवहेलना करो, उपेक्षा करो। छोटी चीज़ों के प्रति उदासीन हो जाओ। और जब बात आये बड़े की, तो प्रण-प्राण से जूझ जाओ। कह दो, अब यहाँ जान भी जाती हो तो जाए, इस मुद्दे पर तो हम पीछे नहीं हटेंगे। ये हुई तुम्हारी सूरमाई।

जिसमें संयम है, वही सूरमा हो सकता है। जिसमें छोटी बातों को अनदेखा करने का, अनसुना करने का संयम है, वही बड़े युद्धों में सूरमा हो सकता है।

संयमी ही सूरमा।

और जिसने अपनी सूरमाई गुर्गों के सामने दिखा दी, वो असली लड़ाई में बहुत पिटेगा।

सारी तो तुम्हारी ताकत केले वालों से उलझने में निकल जाती है! अब ज़िंदगी की असली चुनौतियों का कैसे सामना

करोगे? दिनभर उलझे ही रहते हो। कामवाली बाई से उलझ गए, पार्किंग में किसी से उलझ गए, दुकान में किसी से उलझ गए, दफ्तर में किसी से उलझ गए। चले आ रहे थे, किसी ने कोनी मारी, मुद्दा खड़ा कर दिया! कोई अपना कुत्ता घुमा रहा है, उसका कुत्ता तुम पर भौंक गया, तुम एफआईआर करने पहुँच गए। दिनभर तो तुम खुद को बर्बाद कर रहे हो इन टुच्ची चीज़ों में, अब बताओ असली लड़ाई कैसे लड़ोगे?

असली लड़ाई लड़ सको, इसके लिए अपने बल की ज़रा कद्र करो, सम्मान करो। अपने बल का संचय करो। असली लड़ाई लड़ सकने के लिए अपने बल की संचय-साधना को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं।

बात आ रही है समझ में?

छोटे-छोटे मुद्दों में उलझेंगे नहीं, छोटी-छोटी जगहों पर अपनी ऊर्जा को बिखरने से, खंडित होने से बचाएंगे ताकि बड़े मिशन में फिर उसका सदुपयोग हो सके। यही ब्रह्मचर्य है।

प्र: सर, असली लड़ाई किससे है?

आचार्य: जो तुम्हारा असली दुश्मन है, पहले उसकी पहचान कर लो, उसी से असली लड़ाई है। छोटे दुश्मनों से उलझे रहोगे तो बड़ा वाला दिखाई ही नहीं देगा।

प्र: हमारा असली मिशन क्या है?

आचार्य: मुझे क्या पता! मिशन तुम्हारा है, बताऊंगा मैं?

अपने जीवन की ज़िम्मेदारी उठाओ भाई! मुझसे कह रहे हो आप कि तुम्हारा असली मिशन क्या है। मैं तुमसे कहूँ कि इस प्रश्न का असली उत्तर क्या है?

उत्तर किसे देना है? मुझे। तो उत्तर पता भी किसे होना चाहिए? मुझे।

प्र: कुछ काम करने में हमें अंदर से लगते हैं कि हमें करना चाहिए। कुछ ऐसे काम होते हैं जो अच्छे-से-अच्छे लोग भी बोलते हैं कि करने चाहिए, पर हमारा अंदर से मन नहीं करता तो हम नहीं करते। तो जहाँ हमारा मन लगता है, वहीं से हमें हमारा मिशन पता चले?

आचार्य: मन तो पचास चीज़ों का करता है। देख लो कि जो कुछ कर रहे हो, उसका अंजाम क्या है। अंजाम में जहाँ

शांति मिलती हो, उधर को बढ़े जाओ। और अंजाम में जहाँ धोखा मिलता है, छल मिलता हो, कलह मिलती हो, वहाँ से दूर हटो।

आकर्षक तो बहुत चीजें लगती हैं; बात आकर्षण की नहीं, अंजाम की है।

प्र: मुक्ति फिर क्षण-प्रतिक्षण प्रेक्टिस करनी चाहिए? यदि मैं उसको कोई फाइनल गोल रखता हूँ तो बहुत प्रेशर आता है।

आचार्य: हाँ। बहुत बढ़िया। ठीक अभी जो चीज़ मन को खराब कर रही हो, उससे हटो।

प्र: मन को खराब कर रही हो माने अशांत कर रही हो? तो फिर मैं सही पथ पर हूँ?

आचार्य: (मुस्कुराते हैं) प्रतिपल पथ का निर्माण करना पड़ता है। पहले से निर्धारित कोई पथ नहीं है कि "शांति-पथ," और तुम चल पड़े उसपर। तुम ये भी कह सकते हो कि तुम्हारी अशांति ही उस पथ का निर्माण करती है जो शांति की ओर जाता है। सुनने में ये बात विचित्र लगेगी। पथ तो चाहिए ही नहीं न अगर शांत हो। अगर शांत हो तो कोई पथ चाहिए क्या? फिर तो मंज़िल ही मिल गई। पथ तो तभी चाहिए जब अशांत हो। तो पथ का निर्माण ही तुम्हारी अशांति करती है।

प्र: योग, प्राणायाम, अच्छा कर्म — ये सब कितनी मदद करते हैं शांति में?

आचार्य: तुम देख लो। इनसे जीवन अगर सुधर रहा हो तो इनके साथ आगे बढ़ो।

प्र: पर ये कारण नहीं हैं शांति के, मुक्ति के लिए?

आचार्य: नहीं।

प्र: मनोरंजन हमारी आदत है या अनिवार्य आवश्यकता है?

आचार्य: द्वैत का झूला। तुम आमतौर पर जैसे रहते हो, उसमें तुम्हें दुःख मिलता है, तो फिर तुम कृत्रिम तरीके से अपने लिए सुख की रचना करते हो। ये मनोरंजन है। तुम अगर बहुत सुखी हो तो क्या तुम मनोरंजन की तरफ भागोगे? मनोरंजन की तरफ तो तभी भागते हो जब ऊबे होते हो, थकान होती है, दुःख और विषाद होता है।

दुःख, निराशा, अवसाद, थकान आदि बुरे तो सभी को लगते हैं। पर बुरे भले ही लगते हों, उनके सामने तुम्हारे पास दो रास्ते होते हैं। एक तो ये कि दुःख बहुत बढ़ गया है तो सुख पर कूद जाओ। द्वैत के एक सिरे से दूसरे सिरे पर कूद जाओ। और दूसरा ये कि कुछ ऐसा इंतज़ाम कर लो कि दुःख-सुख के झूले से ही उतर जाओ। जब तक झूले पर हो, कभी एक पक्ष ऊपर होगा, कभी दूसरा पक्ष ऊपर होगा। झूले का मतलब ही यही है —"सी-सो"। पर बाल-बुद्धि को झूले पर रस आता है। वो यही खेलती रहती है: थको, मनोरंजन करो। मनोरंजन करके थोड़ी देर को थकान भुला दो तो फिर तैयार हो जाओ थकने के लिए। फिर थको, फिर मनोरंजन करो!

....

(हैदराबाद, 2019)

तुम्हारा दुश्मन तुम्हारे भीतर बैठ शासन कर रहा है

प्रश्नकर्ता: प्रणाम आचार्य जी, कल आपने अनुशासन के बारे में कहते हुए 'शासन' शब्द को अलग कर उसके विषय में भी बताया था। आपने कहा था कि व्यक्ति वास्तव में जान जाए कि कौन है जो सच्चा है, और उसमें शासित हो जाए।

मैं जब अपना जीवन देखता हूँ तो पाता हूँ कि मैं सारी गलत धारणाओं और शिक्षाओं में ही शासित हो रहा हूँ। और वो जो मुझे उनमें शासित होने के लिए मजबूर करते हैं, उनका अपना एक बल है, उनकी अपनी एक धारा है। आपके पास आने से मेरा अनुभव तो होता है कि आप सही हैं और जो सीखने को मिल रहा है वो सच है, पर उसमें शासित होने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा हूँ। कृपया राह बताएँ।

आचार्य प्रशांत: सच के खिलाफ जिन उल्टी ताकतों की आप बात कर रहे हैं कि वो आप पर शासन करने लगती हैं, आप पर हावी होकर आपको नियंत्रित करने लगती हैं, अगर वो ताकतें पूर्णतया बाहरी हों तो फिर कोई फर्क न पड़े आप पर। आमतौर पर हम जब कहते हैं कि कोई हमको भ्रमित कर देता है, कोई हमको बरगला देता है, कोई हमारे

मन पर छा जाता है, कोई हम पर हावी हो जाता है, तो हमारा आशय ये होता है कि बाहर वाला कोई है जो अपनी धूर्तता से और अपने बल से चढ़ बैठा हो हम पर।

उल्टी ताकतें जब तक बाहर की हैं तब तक कोई ख़तरा नहीं। बाहर की उल्टी ताकत आप पर अगर हावी होती है तो इसलिए क्योंकि उसने आपके भीतर अपना एक सहायक, एक मित्र खड़ा कर दिया है। बाहर के बैरी आपका कुछ नहीं बिगाड़ पाते अगर आपके अंदर आपका बैरी न बैठा होता।

आपका कुछ बिगड़ तो रहा ही है, इतना आप जानते हैं। दिन पूरा व्यर्थ बीत जाता है, चिंता, तनाव, झगड़े, कलह-क्लेश में गुज़र जाता है। ये एहसास आपको भी रहता है कि समय खराब हो रहा है, दिमाग खराब हो रहा है, जीवन खराब हो रहा है। इतना तो आप समझते हैं कि कुछ गड़बड़ ज़रूर है। लेकिन उस गड़बड़ की पूरी ज़िम्मेदारी आप बाहर के बैरी पर डाल देते हैं। आप कहते हैं कि, "मुझे उल्टी राह चलनी पड़ रही है इन बाहर वालों की वजह से"। वो कोई बाहरी व्यक्ति हो सकता है, कोई बाहरी परिस्थिति हो सकती है, अतीत की कोई घटना हो सकती है, वो भी बाहरी बात ही है।

मैं इनकार नहीं कर रहा कि बाहर बहुत कुछ है जो आपकी शांति के प्रतिकूल होता है। बाहर बहुत कुछ है जो आपकी शांति के प्रतिकूल होता है लेकिन वो कुछ नहीं बिगाड़ पाता आपका, मैं कह रहा हूँ, अगर आपके भीतर ही कोई न बैठा होता जो खुद शांति का विरोधी है।

बाहर वाला जब तक बाहर वाला है, वो जीता नहीं। भले ही उसमें कितना ही दम हो बाहर-बाहर रहकर के। बाहर वाला जब तक बाहर वाला है, वो नहीं जीता, भले ही बाहर वो कितना भी बल इकट्ठा किए खड़ा हो। कहाँ खड़ा है वो? बाहर ही तो खड़ा है। अभी वो जीता नहीं।

बाहर वाले की बाहरी ताकत आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। आपका बिगड़ता तब है जब बाहर वाला धीरे-धीरे आपकी बेहोशी का फायदा उठाकर के या सच के प्रति आपकी अश्रद्धा का फायदा उठाकर के आपके भीतर घुस जाता है। वो भीतर घुस गया और उसने आपके भीतर अपना एक सहायक छोड़ दिया, अपना एक गुप्तचर, अपना एक भेदी छोड़ दिया। अब वो जो बाहर वाला है, वो दिख तो बाहर रहा है, पर वो वास्तव में कहाँ बैठ गया है? वो भीतर बैठ गया है। अब आप नाचेंगे। अब आप उसके इशारों पर नाचेंगे और आप सोचेंगे कि, "वो बाहर से नचा रहा है मुझे"। वो बाहर से नहीं नचा रहा आपको, वो अब नचा रहा है आपको—भीतर से।

अगर भीतर आपके, उस बाहर वाले के प्रति कोई सहायता न हो, कोई सद्भावना न हो, तो बाहर जितनी उल्टी घटनाएँ घटेंगी, भीतर से आप उतने मजबूत होते जाएँगे। बाहर जितनी घटना प्रतिकूल होती जाएँगी, उतना भीतर का माहौल 'शांति' और 'सच' के और अनुकूल होता जाएगा। बाहर जितना अंधेरा छाएगा, आपको भीतर की रोशनी की

उतनी ज़्यादा फिर अहमियत पता चलेगी। बाहर अंधेरा घना होता जा रहा है, अंधेरा सोच रहा है कि मैं पूरे तरीके से प्रकाश को मिटा दूँगा। अंधेरा सोच रहा है कि वो आपको डरा देगा अंधेरे का खौफ़ दिखा कर के। पर आपके पास रोशनी है। कहाँ है? भीतर है। तो बाहर का घना अंधेरा आपको आपकी आंतरिक रोशनी से और जोड़ देगा। आपमें आपकी आंतरिक रोशनी के प्रति और सम्मान जागृत कर देगा—अगर अंधेरा सिर्फ बाहर-बाहर हो। पर वो बाहर का अंधेरा जब भीतर का अंधेरा बन जाता है तब आपका लड़खड़ाना, भ्रमित हो जाना, टकरा कर गिरना लाज़मी है।

बात समझ रहे हैं?

जो कुछ बाहर निंदनीय लगता हो, उसको देखकर के उसकी निंदा-भर्त्सना करते समय ये जाँचना न भूलें कि वो बाहर-बाहर ही है या भीतर भी प्रवेश कर चुका है। बाहर-बाहर ही है तो होगा बहुत ताकतवर, आप सुरक्षित हैं। आपको घबराने की कोई ज़रूरत नहीं। और अगर भीतर वो आ चुका है, तो फिर तो घर का भेदी लंका ढाए! बहुत कुछ है न बाहर जो आपको निंदा के योग्य लगता है? और जिसकी आप खुलकर निंदा करते भी हैं—ये ऐसे बुरा है, वो वैसे बुरा है। पर जो जैसे भी बुरा है, ये भी देख लीजिए कि उसके संपर्क में आकर कहीं उसकी बुराई आपमें तो प्रवेश नहीं कर गयी? प्रवेश कर गयी है या नहीं कर गयी, उसको जाँचने का सूत्र मैंने बता दिया: अगर आपको दिखाई दे कि दिन पूरा उलझन में ही बीत रहा है, चिंता में और डर में, घबराहट में ही बीत रहा है, भीतर तमाम तरह के आंधी-तूफान लगे ही रहते हैं, स्थिर नहीं हो पाते एक बात पर, सच्चाई को पकड़कर अविचल खड़े नहीं हो पाते, तो जान लीजिए कि बाहर की गंदगी ने भीतर भी प्रभाव डाल दिया है। बात समझ में आ रही है?

तो डरिए नहीं कि बाहर वाला शासन करने लगेगा आप पर। किसी बाहर वाले की कोई हैसियत नहीं कि वो आप पर शासन करे। वास्तव में कभी किसी पर किसी बाहर वाले ने शासन करा ही नहीं। तत्वज्ञ लोग बोलेंगे कि, "बाहर कोई होता ही नहीं तो बाहर वाला कौन तुम पर शासन करेगा?"

जब तुम पर 'अंधेरा' शासन करता है तो वो तुम्हारे भीतर का अंधेरा होता है। और जब तुम पर 'रोशनी' शासन करती है तो वो तुम्हारे भीतर की रोशनी होती है। तुम चाहे माया के चलाए चलो, चाहे सच के चलाए चलो, वो दोनों होते तुम्हारे भीतर के ही हैं, बाहर वाला कोई नहीं होता जो तुम पर शासन करे।

आदमी ऐसा है ही नहीं कि किसी बाहर वाले के चलाए चले। दिखने में भले ही ऐसा लगे कि एक आदमी पर बाहरी परिस्थितियाँ राज कर रही हैं, एक आदमी पर किसी दूसरे व्यक्ति का बहुत प्रभाव है, लेकिन अंदर की बात ये होती है कि दूसरे व्यक्ति की बात पर चलने का निर्णय भी आप ही तो करते हैं न? भई, मैं आपसे कोई बात बोलूँ, और आप निर्णय करें कि आप मेरी बात मानेंगे, तो अंततः आपने किसकी बात मानी है? मेरी बात या अपनी बात? क्योंकि मेरी बात भी तो आपने पहले स्वीकार करी, मानने योग्य मानी, और फिर उसपर अमल किया न। तो ले देकर हर आदमी

चलता तो अपनी पर ही है। हाँ, जिसको हम कहते हैं 'अपने पर चलना', तो ये 'अपना' 'दो' होता है—भीतर की रोशनी और भीतर का अंधेरा। आप देख लीजिए आप किसके द्वारा शासित होना पसंद करेंगे।

ये डर, ये ख्याल बिल्कुल मन से निकाल दीजिए कि कोई बाहर वाला आकर आपको काबू में कर लेगा, आपको कठपुतली बनाएगा, आपको नियंत्रित करेगा। कोई बाहर वाला नहीं चलाएगा आपको। यहाँ कौन किसी के चलाए चला है? इंसान ऐसा है कि वो अपने ही चलाए चलता है, भले ही वो कितना भी प्रदर्शित करे कि वो यहाँ सर झुका रहा है, वहाँ सर झुका रहा है, इसकी आज्ञा मान रहा है, उस से सलाह ले रहा है। अगर गहराई में जाकर देखोगे तो हर आदमी अंततः अपने निर्णय पर ही चल रहा है।

तुम ये निर्णय भी करो कि तुम दूसरे के निर्णय पर चलोगे, तो भी तुम चले किसके निर्णय पर? किसके निर्णय पर चले? अपने ही निर्णय पर तो चले। ये निर्णय किसका था कि फिलहाल मैं अपने निर्णय पर नहीं, दूसरे के निर्णय पर चलूँगा? ये किसका निर्णय था? अपना था। तो जब हम दूसरे के चलाए भी चल रहे होते हैं, प्रकट रूप से, तब हम अंदरूनी रूप से अपने ही चलाए चल रहे होते हैं।

बाहर वाले की बात करनी अब हम बंद करेंगे।

अब ये देख लो कि भीतर के किस बल को अपने ऊपर शासन करने की अनुमति देनी है। बंधन भी हमारे अंदर है, मुक्ति भी हमारे अंदर है। राम भी अंदर है, रावण भी अंदर हैं। संत भी हमारे ही अंदर है, शैतान भी हमारे ही अंदर है। चयन हमें करना है।

अध्यात्म इतना ही सिखाता है कि बेटा चुन तो तुम ही रहे हो; न मजबूर हो न कमज़ोर हो; चुनाव तो सब तुम्हारा ही तुम्हारा है। बात न परिस्थितियों की है, न परवरिश की है, न प्रभावों की है। तुम्हारे साथ जो कुछ हो रहा है वो किसी-न-किसी गहरे तल पर तुम्हारी ही स्वेच्छा है। तो जब भाई तुम ही अपने जीवन के निर्धाता हो, जब तुम ही अपने जीवन में घटने वाले अनुभवों का चयन करते हो, तो ये चयन थोड़ा होशियारी और ईमानदारी से करो न। ये अध्यात्म सिखाता है। चुनना तुम्हें ही है, बेकार किसी और पर ज़िम्मेदारी या दोष मत डालो। सब तुम्हारा ही किया-धरा, तुम्हारी ही करतूत है।

और ये बात लजाने की या ग्लानि मनाने की नहीं है। ये बात बहुत ज़्यादा सशक्त कर देती है हमको। ये बात कह रही है कि तुम में ये ताकत है कि तुम अपनी ज़िंदगी का फैसला खुद कर सकते हो। तुम में ये ताकत है कि तुम ही करते हो अपनी ज़िंदगी का फैसला। बात ये नहीं है कि एक आदमी अपनी ज़िंदगी का फैसला करता है और दूसरा आदमी यूँ ही बस बहाव में बहता चला जाता है। दो आदमियों में अंतर ये नहीं होता कि एक अपना निर्धाता है और दूसरे का कोई और विधाता है। दो आदमियों में अंतर ये होता है कि एक आदमी अपनी ज़िंदगी को 'होशपूर्वक' चलाता है और

दूसरा आदमी अपनी ज़िंदगी को 'बेहोशी' में चलाता है। चलाते दोनों खुद ही हैं अपनी ज़िंदगी को। ये नहीं कह सकते आप कि एक आदमी तो अपना मालिक है और दूसरा आदमी किसी और का गुलाम है। हर आदमी अपना मालिक है। बस एक मालिक अपना काम-धाम होश में चला रहा है, और दूसरा मालिक अपना सब काम धुत्त नशे में, बेहोशी में चला रहा है, झूठ में चला रहा है, बेईमानी में चला रहा है। पर चला तो दोनों खुद ही रहे हैं। किसी और पर इल्ज़ाम नहीं दिया जा सकता। किसी और को श्रेय भी नहीं दिया जा सकता। बात समझ में आ रही है?

जिस क्षण आप ईमानदारी से ये स्वीकार कर लेते हैं कि आपका जीवन आपका चुनाव है, उस क्षण आपके जीवन में एक बड़ी क्रांति आ जाती है, सब बदल जाता है, आप कुछ और ही हो जाते हैं। जिसने ये मान लिया की शुभ-अशुभ कुछ कहीं और से तय होकर नहीं आ रहा, सब अपने ही हाथ है, वो पाता है कि उसके हाथों में सहसा बहुत ताकत आ गयी है। वो आदमी अब वास्तव में आध्यात्मिक हो गया। उस आदमी के जीवन में अब अद्वैत की शुरुआत हो गयी। ये भीतर-बाहर का झूठा विभाजन अब मिटने लग गया।

वास्तव में 'बाहर' जैसी एक सत्ता, 'बाहर' जैसी एक इकाई खड़ी करना हमारे लिए बहुत ज़रूरी हो जाता है अपने आंतरिक झूठ को प्रश्रय देने के लिए। भीतर के झूठ को छुपाना है अगर, भीतर की बेईमानी को छुपाना है अगर, तो हमारे लिए ज़रूरी हो जाता है कि बाहर एक झूठी, काल्पनिक, बड़ी सत्ता खड़ी कर दें।

जब आप अपने प्रति ईमानदार हो जाते हैं तो बाहर की किसी सत्ता की बात करना ज़रूरी नहीं रह जाता। तब आप जानते हैं कि अंतर्जगत है, आंतरिक विश्व है, और बस आंतरिक ही है। विश्व आंतरिक है और उस आंतरिक विश्व के केंद्र पर आप बैठे हुए हैं।

पहले तो 'बाहर' की बात छोड़ो, फिर 'आंतरिक' भी विश्व की बात छोड़ो, क्योंकि पूरे विश्व की क्या बात करनी? जब पूरे विश्व के केंद्र पर हम ही बैठे हैं और केंद्र से ही पूरा आंतरिक विश्व निर्धारित हो रहा है, तो फिर बस बात इसकी करो कि 'भीतर केंद्र' पर कौन बैठा हुआ है। ये हुई सच्ची आस्तिकता। सच्ची आस्तिकता, पूरी ज़िम्मेदारी के साथ ही आती है।

सच्ची आस्तिकता का ही नाम ज़िम्मेदारी है, ज़िम्मेदारी का ही दूसरा नाम कर्तव्य, और सच्चे कर्तव्य का ही दूसरा नाम धर्म होता है।

धर्म और आस्तिकता एक साथ चलते हैं। आस्तिकता का मतलब है, जीवन के आंतरिक केंद्र पर सही इकाई को बैठाना। ''मुझे पता है मेरे ही भीतर माया भी है, सच भी है, मैं भीतर माया को क्यों मालिक बनने दूँ? भीतर की मालकियत जब किसी को सौंपनी ही है तो मैं सच को चुनूँगा। सच को चुना और उसके हाथ में शासन सौंप दिया कि

तू शासन कर और मैं शासित होऊँगा।" ये सही जीवन है; इसी को धर्म बोल दीजिए, इसी को अध्यात्म बोल दीजिए, इसी को ज़िम्मेदारी बोल दीजिए, इसी को कर्तव्य बोल दीजिए, इसी को आस्तिकता बोल दीजिए, इसी को बोध बोल दीजिए। बात आ रही है समझ में?

और अगर ये नहीं बोलना है आपको, तो फिर जीवन इल्ज़ाम और इंतकाम की भाषा में ही बीतेगा। आपकी पूरी कहानी में यही दो बातें होंगी: इल्ज़ाम और इंतकाम। "फलाने ने मेरे साथ गलत किया, मुझे बदला लेना है," "फलाने ने मेरे साथ गलत किया, मुझे उससे किसी तरीके से दंड वसूलना है"। कुछ मज़ा नहीं है इस भाषा में लिखे हुए जीवन का। सोचिए आपका जीवन गीत अगर इसी सुर-ताल में है, इल्ज़ाम-इंतकाम, तो कौन सुनना चाहेगा इस गीत को? आप स्वयं भी नहीं सुनना चाहेंगे।

बाहर इल्ज़ाम-इंतकाम, और अगर भीतर की भाषा में लिखेंगे तो जीवन गीत में होगा राम।

चुनाव आपको करना है।

....

(महाराष्ट्र, 2019)

कैद में हो, जूझ जाओ!

आचार्य प्रशांत: कसाई के पिंजड़े देखे हैं न? उसमें कुक्कड़ मुर्गा और गुटरी मुर्गी बैठकर चर्चा कर रहे हैं कि, "महाराष्ट्र का हाल भी कर्नाटक जैसा होगा?" और थोड़ी ही देर पहले उन्होंने देखा है कि पिंजड़े में एक हाथ भीतर आया था, एक को उठाया था, वहाँ ले जाकर के पत्थर पर रखा था, और खच!

या वो मुर्गा-मुर्गी बैठकर के कहें कि, "माता का व्रत रखते हैं"। क्या होगा रे? "आरती गाते हैं।" क्या? वहाँ अंदर एक ज्योतिषी भी है। वो कहता है मैं पंजे देखता हूँ। वो सबको उनके पिछले जन्म और अगले जन्म का हाल बता रहा है।

क्या करोगे ये सब जानकर? तुम्हारे लिए इनकी कोई प्रासंगिकता? कुछ मिलेगा?

थोड़ा बड़ा पिंजरा है। उसके भीतर भूरी मुर्गी ने ब्यूटी पार्लर भी खोल रखा है। वहाँ चार-पाँच लाइन लगाकर के खड़ी हुई हैं। कह रही हैं, "मेरे पंख वगैरह... ज़रा चमका दो अच्छे से"। अभी ये नोचे जाएंगे! वहाँ पंख चमकाने के लिए खड़ी है। कह रही है, "नाखून अच्छे से क्लिप कर देना"। अभी इन्हें कुत्ते खा रहे होंगे सड़क के।

होश का मतलब यही होता है, अपनी वर्तमान हालत के प्रति ईमानदारी। असल में जानना भी नहीं, सिर्फ ईमानदारी। क्योंकि भाई जानते तो हम हैं ही। कौन है जो नहीं जानता?

हमें ज्ञान की नहीं ईमानदारी की कमी है। हमें होश की नहीं साहस की कमी है।

सब जानते हैं पर भीतर इतनी तामसिकता भरी हुई है कि कौन संघर्ष करे इस कैद, इस पिंजड़े, इस कसाई के खिलाफ? तो अपने-आपको ऐसा जताओ, अपने ही प्रति ऐसा अभिनय करो जैसे सब ठीक चल रहा है। "सब ठीक ही तो चल रहा है।" सुबह-सुबह कुक्कड़ उठकर बोलता है, "गुड मॉर्निंग!" गुड मॉर्निंग? गुड मॉर्निंग? तेरे लिए गुड मॉर्निंग? तेरे लिए कैसे गुड है ये मॉर्निंग ?

वो कहे कि, "देखिए मैं कितना निर्बल हूँ, और ये लोहे की सलाखें हैं, और वो अब्दुल कसाई है, उसकी बाहें देखिए, मज़बूत। मेरी हैसियत क्या है? वहाँ वो चाकू है, उसकी धार देखिए। मेरी औकात क्या है?"

तो भाई तू एक काम कर, तू मुक्त होने की कोशिश में इन तीलियों से, इन सलाखों से लड़कर मर जा। वो मौत भली होगी न! कम-से-कम उस मौत में कुछ रस तो होगा, कुछ दम होगा, कुछ ईमानदारी होगी।

और तू अपनी ओर से पूरी कोशिश तो कर, क्या पता कहीं से सहारा आ जाए। कौन जाने कहीं से सहारा आ जाए। मदद मिलती है, सहारे आते हैं, चमत्कार होते हैं, थोड़ा भरोसा तो रखो। और नहीं होंगे चमत्कार तो अधिक-से-अधिक क्या होगा? मर ही तो जाओगे। मर तो वैसे भी रहे थे वहाँ।

तो मुर्गे की मदद भी खुदा तभी करता है जब वो पंख फड़फड़ा के, जान लगाकर कसाई के हाथों से छिटक करके सड़क पर दौड़ पड़ता है। और कहता है, "होगा जो होगा, वो देखा जाएगा। जो भी होगा, अभी जो हालत है, उससे

बेहतर ही होगा।" आई बात समझ में?

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2019)

ख़ुद जग जाओ, नहीं तो ज़िंदगी पीट कर जगाएगी

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आज दिन भर तमस हावी रहा है। मैं देख रहा था कि उसपर मेरा वश चल नहीं पा रहा था ज़्यादा। कभी देख पा रहा था, कभी लुढ़क रहा था और कभी उठा रहा था ख़ुद को। ये लगातार चलने वाली प्रक्रिया है या कुछ और है?

आचार्य प्रशांत: देखो बेटा, शरीर तो होता है जड़। ठीक है? तमसा शरीर की तो होती नहीं। कोई कुछ भी बोले कि लोग तीन तरह के होते हैं, या लोगों ने जो भोजन कर लिया होता है वो तीन तरह का होता है इसीलिए वो भोजन कर-करके लोगों के शरीर तीन तरह के बन गए होते हैं। कई लोग होते हैं, कहते हैं, "मेरा शरीर बड़ा आलसी है"। बेकार की बात है!

तुम आलस करने में आलस करते हो क्या?

एक बार तो बड़ा मज़ा लगा था। तब रविवार को सुबह-सुबह सत्र हुआ करते थे, कई साल पहले की बात है। तो नौ बजे लोगों को आना होता था। मैं कहूँ, "नौ बजे आ ही जाना नहीं तो दरवाज़े बंद कर दूँगा, फिर सत्र में नहीं बैठ पाओगे"। गर्मी में तो फिर भी ठीक था, जाड़ों में जो लोग दूर से आएँ, कोई गुड़गांव से आ रहा, कोई कहीं से आ रहा, वो नौ बजे पहुँचे ही नहीं। जाड़ों में आने वालों की संख्या भी कम हो जाए। पूछो तो कहें, "जाड़ा बहुत है, आलस आता है। सात बजे तक तो अंधेरा ही रहता है, कैसे उठा करें?" ये... वो...।

तो एक बार मैंने दूसरा प्रयोग किया, मैंने कहा, "आज नौ बजे दरवाज़ा मत बंद करना, दरवाज़ा खुला रहने देना, जितने आते हैं आने देना। आज सत्र शुरू होने के समय दरवाज़ा खुला रहेगा, नहीं बंद होगा।" दरवाज़ा खुला रहा, लोग आते रहे, आते रहे। जब आ गए, सत्र हो गया, तो मैंने कहा, "अब दरवाज़ा बंद कर दो! आज आने के लिए खुला था, आज लौटने के लिए नहीं खुलेगा। आज लौटने के लिए बंद रहेगा।" जितने लौटने वाले थे वो सब दरवाज़े पर पहुँच गए, दरवाज़ा पीटने लगे, बोले, "खोलो! खोलो!" बोले, "जाने दो!" स्वयंसेवकों ने कहा, "दरवाज़ा तो खुलेगा नहीं, चाबी आचार्य जी के पास है"।

मैंने कहा, "तुम लोग भाई आलसी लोग हो, या तुम्हें बस आने में आलस आया था?" जहाँ से आए थे, और आने में जितना रास्ता तय किया था, यहाँ से वहीं को वापस लौटोगे, और वापस लौटने में भी उतना ही रास्ता तय करोगे। तो अगर तुमको आने में आलस था तो वापस लौटने में भी आलस होना चाहिए बिल्कुल बराबर का। तो बिल्कुल आलस करो न। आलस दिखाओ! दरवाज़ा बंद है, सो जाओ।" "नहीं, नहीं, कोई आलस नहीं है। जाने दो! जाने दो! बहुत मार पड़ेगी।" "नहीं, तुम तो आलसी लोग हो। वापस जाने में भी आलस करो न या बस आने में ही आलस होता है?" अगर वाकई तुम पक्के और सच्चे आलसी होते तो जितना आलस तुम्हें यहाँ तक आने में होता, उतना ही आलस तुम्हें यहाँ से वापस जाने में भी होता। पर वापस जाने में तुम्हें कभी आलस नहीं होता, हिरण की तरह भागते हो! और यहाँ जब आना होता है तो कछुए की तरह आते हो। कहते हो, "हम तो आलसी हैं"।

तो ये बात आलस की नहीं है, ये बेईमानी की बात है।

'तमसा' की बात कर रहे हो न तुम? यही शब्द इस्तेमाल किया न तुमने कि दिन भर आज 'तमस' से भरा रहा? 'तमसा' जानते हो क्या होती है? तमसा एक झूठा विश्वास होती है। तमसा एक अंधा विश्वास होती है कि, "मैं जैसा हूँ, ठीक हूँ"। जब मैं जैसा हूँ, ठीक हूँ, तो मुझे सोने दो न भाई! इसीलिए तामसिक आदमी सोता खूब है। अरे भाई, जब सब ठीक ही चल रहा है तो मेहनत क्यों करा रहे हो? मुझे सोने दो! तामसिक आदमी को ये झूठा यकीन बैठ गया होता है कि जो चल रहा है ठीक ही चल रहा है, और वो बिल्कुल ठीक है।

सात्विक, राजसिक, तामसिक मन में अंतर साफ समझ लो:

सात्विक होने का मतलब है कि तुम सही जगह पर बैठे हो। और अब तुम्हारी तपस्या है कि सही जगह पर बैठे ही रहो और कोई तुम्हें वहाँ से हिला-डुला न दे, भगा न दे। ये सात्विक आदमी है।

राजसिक आदमी वो है जिसे ये तो पता है कि वो गलत जगह पर है, पर जिसे सही जगह का अभी कुछ पता नहीं। तो वो दर-दर घूम रहा है और पचास दिशाओं में भाग रहा है, और हर जगह ठोकर खा रहा है। वो तलाश रहा है सही

दिशा को, पर सही दिशा उसे मिल नहीं रही। वो सही चीज़ की तलाश कर रहा है, पर गलत जगह पर। ये राजसिकता है। इसीलिए राजसिक आदमी को तुम पाते हो खूब दौड़ता-भागता। उसमें महत्वाकांक्षा होती है, उसकी इच्छा होती है, वो दौड़ लगा रहा होता है। उसे कम-से-कम इतना तो पता है कि उसे अभी कुछ चाहिए। उसे इतना तो पता है कि उसकी ज़िंदगी में कुछ अधूरा है, कुछ खाली है, कुछ गलत है। तो राजसिक आदमी को आप पाओगे खूब दौड़-भाग करते हुए। उसे अपने भीतर के झूठ का और अधूरेपन का एहसास है।

तामसिक आदमी गज़ब होता है एकदम। पहली बात, वो गलत जगह पर बैठ गया होता है, और दूसरी बात, उसने अपने-आपको ये भरोसा दिला दिया होता है कि मैं सही जगह पर बैठा हूँ। ये भरोसा अपने-आपको दिला कर के वो सो जाता है।

सात्विक आदमी वो है जो सही गाड़ी पर चढ़ा हुआ है, मंज़िल पर पहुँच जाएगा।

राजसिक आदमी वो जो गाड़ी पकड़ने के लिए ज़ोर से दौड़ रहा है, इधर-उधर पूछताछ कर रहा है, "भैया, कौन-सी ट्रेन है जो मुझे मेरी मंज़िल ले जाए?" लोग पूछ रहे हैं, "तेरी मंज़िल क्या है?" ये पता करने के लिए वो कहीं और, किसी और काउंटर, किसी और खिड़की पर जाकर पूछ रहा है, "मेरी मंज़िल क्या है?" वो कह रहे हैं, "टिकट हम बाद में देंगे, पहले तू पता कर के आ कि जाना कहाँ है"। ये राजसिक आदमी आपको स्टेशन पर, प्लेटफॉर्म पर, चारों तरफ बदहवासी में दौड़ता हुआ नज़र आएगा। ये राजसिकता है।

सात्विक आदमी कौन था? वो सही ट्रेन में बैठ गया है। ट्रेन सही दिशा जा रही है। वो मौज में है। वहाँ भजन कर रहा है।

राजसिक आदमी क्या कर रहा है? एक से लेकर बीस नम्बर तक प्लेटफॉर्म पर वो दौड़ लगा रहा है, उसको पता ही नहीं कि उसे जाना कहाँ है, "कौन-सी गाड़ी?" पर इतना एहसास उसे ज़रूर है कि उसे कहीं जाना है, उसे कोई गाड़ी चाहिए जो उसे मिल नहीं रही है। तो कभी इस गाड़ी में बैठता है, कभी उस गाड़ी में बैठता है, कभी यहाँ पूछताछ करता है, कभी उससे मिन्नत करता है। ये राजसिक आदमी है।

और हमारे जो तामसिक महाराज हैं, उनका क्या वृतांत बताएँ! वो क्या कर रहे हैं? अरे, गाड़ी में नहीं, वो जो प्लेटफॉर्म पर हाथ-गाड़ी होती है, सामान ढोने की, देखी है? सामान ढोने की हाथ गाड़ी होती है, वो उसपर जाकर सो गये हैं। और उनको पूरा भरोसा है कि वो 'चेन्नई राजधानी' में बैठे हुए हैं और कल शाम ढलते-ढलते वो मंज़िल तक पहुँच ज़रूर जाएँगे। वो धुत्त अपना हाथ गाड़ी पर सो रहे हैं और कोई बताने आता है कि, "अरे, हिल लो! कुछ कर लो!" तो उसको वो गाली-गलौच कर के भगा देते हैं। कहते हैं, "भक्क! हम बिल्कुल सही जगह पर हैं, और हमें सोने दो"। कोई बोलता है, "आँख खोलकर देख तो लो"। बोलते हैं, "आँख क्या खोलनी है? हमें पता है भाई,

हम सही हैं!" ये तामसिकता है।

तामसिकता, आलस नहीं है; सतह पर वो आलस जैसी प्रतीत होती है। तामसिकता एक गहरा विश्वास है; कॉन्फिडेंस है तामसिकता। आलसी लोगों को तामसिक मत समझ लेना। जिन लोगों को अपने ऊपर बहुत यकीन है, उनको जानो कि वो तामसिक हैं। वो अपने में ही भरे हुए हैं। वो कह रहे हैं, "हमें पता है, हम सही जा रहे हैं। ठीक है!" देखे हैं ऐसे लोग न? "आई नो (मुझे पता है)"। उन्हें किसी तरह का कोई संदेह ही नहीं उठता अपने ऊपर: "हम कर क्या रहे हैं? क्यों कर रहे हैं? क्यों जी रही हैं? कहाँ आए हैं? कहाँ को जाना है?" उन्हें किसी तरह का कोई सवाल नहीं है। वो अपने आप से ही भरपूर हैं, छलछलाए जाते हैं। ये तामसिकता है।

आमतौर पर हम तामसिक आदमी की छवि बना लेते हैं कि कोई मोटा आदमी जो शराब पीकर के एकदम धुत्त पड़ा हुआ है, हिलने-डुलने को तैयार नहीं, उसपर मक्खियाँ भिन-भिना रही हैं। ऐसी ही छवि है न? नशेड़ी, बेहोश प्रमादी की—यही छवि है तामसिक आदमी की?

तामसिक आदमी ये नहीं है।

तामसिक आदमी कौन है? द कॉन्फिडेंट वन (जिसको अपने ऊपर पूरा भरोसा है)। उस भरोसे के फलस्वरुप वो आलस का भी प्रदर्शन कर सकता है पर आवश्यक नहीं है कि वो आलस का ही प्रदर्शन करें। उसकी केंद्रीय पहचान आलस नहीं 'आत्मविश्वास' है। आलस उसमें हो सकता है हो, हो सकता है न भी हो, लेकिन एक चीज़ उसमें ज़रूर होगी, आत्मविश्वास। और ये जो आत्मविश्वास है, ये एक तरह का अंदरूनी आलस है क्योंकि आत्मविश्वास आपसे कहता है कि - "आप ठीक हो"। जब आप ठीक हो तो आपको कुछ करने की ज़रूरत क्या है? जब कुछ करने की ज़रूरत क्या है, तो आपकी अवस्था कहलाती है आलस की। वो बाहर-बाहर हो सकता है बहुत कुछ करे: बाहर-बाहर चलेगा-फिरेगा, हो सकता है वो दौड़ लगाता हो, लेकिन उसमें एक अंदरूनी आलस्य होता है।

तामसिकता का अर्थ अगर आलस है भी तो 'अंदरूनी' आलस है।

अंदरूनी आलस्य माने - "मैं भीतर अब जहाँ जम गया हूँ, वहीं जमा रहूँगा, कोई मुझे हिला नहीं सकता। मुझे पता है कि मुझे पता है - 'आई नो (मुझे पता है)'"। ये तामसिकता है। "आत्मविश्वास," "कॉन्फिडेंस "।

(प्रश्नकर्ता की ओर इशारा करते हैं) तुम्हें भी दिन भर (शिविर में) कुछ रहा होगा आत्मविश्वास कि, "मुझे तो पता ही है," या, "ये सब यहाँ पर जो गतिविधियाँ चल रही हैं दिन भर, इनकी मुझे क्या ज़रूरत है? मुझे तो पहले ही सब पता है। मैं तो ज्ञानी हूँ; "आई नो"। तुमने भी कहा कि जब मुझे पहले ही सब पता है तो सो जाओ, लुढ़क जाओ। तुम्हें

वाकई अगर लगता कि दिन भर जो हो रहा है वो तुम्हारे काम की चीज़ है, वो तुम्हें कुछ नया दे जाएगी, तो क्या तुम सो पाते? बोलो? नहीं सो पाते न? सो पाने की वजह फिर शारीरिक नहीं, मानसिक है। तुम्हें ये विश्वास है कि, "हमें पता है साहब, हमें मत बताइए!" तो सो गये।

यहाँ भी सत्र में हैं कुछ, जिन्हें बहुत नींद आती है। उनको नींद आने की वजह बस यही है कि उनको भीतर कहीं-न-कहीं ये पूरा विश्वास है कि हमें सब पता है। नहीं तो नींद आ कैसे जाती?

आ रही है बात समझ में?

तो तामसिक आदमी की बेवड़े की छवि मत बना लेना कि, "बेवड़ा है, शराब पीकर के सड़क पर गिर कर सो गया। ये तामसिक आदमी है।" न, न, न! वो आलस हो सकता है बाहरी आलस न हो, भीतरी आलस हो। उस भीतरी आलस का नाम होता है - 'सेल्फ कॉन्फिडेंस '। ये जितने कॉन्फिडेंस के विक्रेता दिख रहे हैं न तुमको, जो सिखाते ही यही हैं - "*हाउ टू बी कॉन्फिडेंट (आत्मविश्वास कैसे बने)?*" और जितने तुमको ग्राहक दिखाई दे रहे हैं कॉन्फिडेंस के, "बताइए हम कॉन्फिडेंस कैसे बढ़ाएँ?" ये सब वास्तव में तामसिक होना चाह रहे हैं।

जब आप कहते हो कि, "आई एम कॉन्फिडेंट (मुझे विश्वास है)," तो आप किसी विषय में कॉन्फिडेंट होते हो न? "आई एम कॉन्फिडेंट ऑफ समथिंग* (मैं किसी चीज़ के लिए आश्वस्त हूँ)," ठीक? "*ओफ वोट?*" किस चीज़ का विश्वास है आपको? अपने आप का, अहंकार का, कि आप ठीक हो, कि आप जानते हो। जबकि तथ्य क्या है? कि आप नहीं जानते हो। तो जो सबसे बड़ा झूठ हम अपने आपसे बोल सकते हैं, वो यही है - "कॉन्फिडेंस "।

अपने आपको ये जतला देना कि, "मैं ठीक हूँ," "मैं स्वस्थ हूँ," "मैं सही जगह बैठा हुआ हूँ," "मुझे पता है," जबकि मैं न ठीक हूँ, न स्वस्थ हूँ, न मुझे कुछ पता है — यही तमसा है।

प्र: आचार्य जी, जो सात्विक है उसकी साधना यह है कि वो जहाँ बैठा है वहाँ से डिगे नहीं। जो राजसिक है, वो अपनी पूरी ऊर्जा लगाए, किसी सही व्यक्ति को ढूँढे और सही गाड़ी में बैठे। जो तामसिक है, उसके लिए क्या कदम है कि वो अपना आत्मविश्वास कम करे, क्योंकि वो तो किसी को रिसीव (ग्रहण) भी नहीं करता?

आचार्य: कहीं-न-कहीं पता तो उसको भी है कि वो रेलगाड़ी नहीं, हाथ गाड़ी पर बैठा हुआ है। कोई और मित्र तुम्हारा हो नहीं सकता, तुम्हारी अपनी चेतना ही मित्र होती है तुम्हारी। तुमने कितना भी अपने आपको तामसिक बना लिया हो लेकिन कुछ तो चेतना अभी भी बची होगी न तुम में? ईमानदारी से उसकी सुनोगे तो पता चल जाएगा कि मैं उतना भी ठीक नहीं हूँ जितना मैंने अपने आपको यकीन दिला रखा है। उसके अलावा देखो कोई चारा नहीं है।

उसके अलावा फिर जो चारा है, वो तो ईश्वरीय अनुकम्पा ही है कि तुम हाथ गाड़ी पर सोने के मज़े ले रहे हो और कोई आए और तुम्हारी हाथ गाड़ी पलट ही दे, और दो-चार लात लगाए और कहे, "कैसी लग रही है राजधानी के फर्स्ट ए.सी. की यात्रा? कैसी लग रही है, बताओ?" पर ये तो फिर ईश्वरीय अनुकम्पा है कि तुम्हारे जीवन में ऐसी कोई दुर्घटना हो जो तुम्हें झंझोड़ के जगा ही दे, जो तुम्हारे सब ढकोसलों को उजागर कर दे, जो तुम्हारी सारी आंतरिक गलतफहमी चूर-चूर कर दे।

तो या तो तुम इंतज़ार करो और प्रार्थना करो कि इस तरह का कोई दैवीय हस्तक्षेप हो तुम्हारे जीवन में या फिर ख़ुद ही ईमानदारी से जग जाओ और कहो कि या तो मैं अपने आपको ये बोल दूँ कि मुझे प्लेटफॉर्म पर ही सोना है, फिर ठीक है, फिर प्लेटफॉर्म पर सोने में कोई बुराई नहीं, या मैं ये मान लूँ कि मुझे जाना तो चेन्नई है पर मैं रेलगाड़ी की जगह हाथ गाड़ी पर सो रहा हूँ—इन दो के अलावा कोई रास्ता नहीं होता; या तो ख़ुद जग जाओ या इंतज़ार करो कि ज़िंदगी झंझोड़ के जगा देगी।

लेकिन ज़िंदगी आवश्यक नहीं है कि जगा ही दे।

दो बातें समझिएगा उस दैवीय हस्तक्षेप के बारे में, जिसकी बात करी मैंने। पहली बात, वो दैवीय हस्तक्षेप हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। हज़ार में से एक ही दो ऐसे लोग होते हैं जिन पर जीवन इतना मेहरबान होता है कि उनको गिरा दे, मार-पीट के जगा दे। हज़ार में एक ही दो लोग होते हैं। दूसरी बात, जीवन जब आपको जगाता है तो वो ये नहीं परवाह करता कि आप जगेंगें या नहीं जगेंगें, और जगेंगें तो आपको चोट कितनी लगेगी, और जगाने की प्रक्रिया में कहीं आप मर ही गए तो—जीवन फिर इन सब बातों की परवाह नहीं करता।

जीवन ऐसा है कि जैसे आप रेल की पटरी पर ही सो गये। आप रेल की पटरी पर ही सो गये तो आपको जगाने के लिए आ भी रहा है तो कौन? रेलगाड़ी। आप जग गये तो ठीक, धन्यवाद दीजियेगा कि जग गये! और नहीं जगे तो भी ठीक, वो आपके ऊपर से गुज़र जाएगी! उसको ये इच्छा ही नहीं है कि आप जगें, वो अपना काम कर रही है। उसके काम करने के फलस्वरूप अगर आपको जागृति मिल गयी कि आप ट्रेन की पटरी पर लेटे हुए थे और तभी सब कुछ गड़गड़-गड़गड़ हिलने लग गया, ट्रेन की गुर्राहट दूर से आपको सुनाई देने लग गई, और सीटी आपके कानों को चीर गयी बिल्कुल और आप उठ बैठे तो अच्छी बात है, आपके लिए अच्छा है। पर ट्रेन की ये मंशा नहीं थी कि आपको जगाए। आप उठ गये, आपका सौभाग्य है, पर ये ट्रेन का इरादा नहीं था कि वो आपको जगाए। उसका तो काम है चलते रहना। उसके चलते रहने के फलस्वरूप आप जग जाएँ तो ये एक आकस्मिक घटना है, आयोजित नहीं। और आप नहीं जगे तो जीवन फिर कोई रियायत नहीं करता, ट्रेन में कोई करुणा नहीं होती है, वो गुज़र जाएगी आपके ऊपर से।

तो कुल मिलाकर के ये दो विकल्प हैं जो कि या तो अपनी चेतना के साथ ईमानदारी बरतो और उठ जाओ, या फिर किसी दैवीय अनुकम्पा की प्रतीक्षा करो। इन दोनों में से बेहतर विकल्प कौन-सा है? भैया, ख़ुद ही उठ जाओ! नहीं तो कहते हैं न - "ख़ुदा की लाठी बे-आवाज़ होती है पर पड़ती बहुत ज़ोर की है"।

या तो ख़ुद सीख लो, नहीं तो ज़िंदगी सिखाएगी।

जब ज़िंदगी सिखाती है तो वो किसी तरह की कोई रियायत नहीं करती। वास्तव में वो सिखाना भी नहीं चाहती है, वो बस कर्मफल देना चाहती है। उस कर्मफल से आप सीख लिए, आपकी किस्मत; उस कर्मफल ने आपको तोड़ ही दिया, बर्बाद ही कर दिया और मार ही डाला, आपकी किस्मत।

वो लोग बहुत सावधान रहें जो कहते हैं कि, "नहीं साहब, हमें सीखने की ज़रूरत नहीं है। हम अपने अनुभवों से सीखेंगे। हम तो जीवन से सीखेंगे। हमें ज़िंदगी सिखाएगी।" ज़िंदगी बहुत कठोर शिक्षिका है। वो शिक्षिका भी नहीं है। वो ऐसी है कि वो साल भर पढ़ाती नहीं है, वो सिर्फ साल के अंत में इम्तिहान लेती है। वो कहती है - "पढ़ाई-लिखाई तुम जानो। सेल्फ स्टडी! हमारा काम क्या है? इम्तिहान लेना।" वो इम्तिहान लेती है। तुमने इम्तिहान में योग्यता दिखा दी, बड़ी बात! नहीं दिखाई, उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। वो सीधे तुमको अयोग्य और अनुत्तीर्ण घोषित करके आगे बढ़ जाएगी।

तो ये प्रतीक्षा मत करो कि मैं तो जीवन से सीखूँगा इत्यादि-इत्यादि; जहाँ कहीं सीख सकते हो, और जितनी जल्दी सीख सकते हो, सीखो बेटा।

....

(उत्तराखंड, 2019)

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, मैं जब बहुत से लोगों, जैसे मजदूर, रिक्शेवालों इत्यादि से मिलता हूँ, देखता हूँ, तो लगता है मुझे ही चिंता रहती है, इन लोगों को मैंने कभी चिंतित होते हुए नहीं देखा। वो कहते हैं कि कल की कल देखेंगे। ऐसा लगता है कि वो तो बिना किसी प्रयास के ही वर्तमान में रह रहे हैं।

आचार्य प्रशांत: नहीं, नहीं ऐसी बात नहीं है। ये तमसा है; ये सत्य नहीं है। तमसा का अर्थ होता है कि न सिर्फ आप एक गर्हित दशा में हैं अपितु आपको उस दशा से अब कोई शिकायत भी नहीं रह गयी है। आप बदलना नहीं चाहते।

देखिए, दो स्थितियाँ हो सकती हैं जहाँ पर आप बदलाव न चाहते हों। पहली यह कि बुद्धत्व घटित ही हो गया है, मंज़िल मिल गयी है, अब कहाँ जाना है? तो अब बदलाव का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। और दूसरा ये कि नशा इतना गहरा है, और आलस इतना है, और अज्ञान इतना है कि आपको आपकी गयी-गुज़री स्थिति पता ही नहीं लगती, और पता यदि लग भी जाती है तो परेशान नहीं करती। आप गलत जगह बैठ गये हो और जम के बैठ गये हो, और अब आलस ने पकड़ लिया है आपको। "अब ठीक है, अब क्या करेंगे? यही है, चल रहा है। कल की कल देखेंगे।" तो उनको आप आदर्श मत बना लीजिएगा।

ऐसे बहुत होते हैं। एक आदमी है जिसे सोने से पहले कोई काम पूरा करके सोना है। वो अच्छे से जानता है कि काम पूरा नहीं करेगा तो परिणाम क्या होगा — नुकसान भी होगा, अपमान भी होगा — पर वो सो जाता है। वो अच्छे से जानता है कि सोया तो नुकसान भी है और अपमान भी है, पर वो सो जाता है। ऐसा थोड़े ही है कि उसे अब कर्मफल की चिंता नहीं रह गयी है। बात बस इतनी-सी है कि उसकी वरीयता में, उसके मूल्यों में अब सम्मान से भी ऊपर मूल्य आ गया है आलस का। वो कह रहा है, अपमान भी सह लेंगे और नुकसान भी सह लेंगे, अभी तो तमसा हावी है, सो जाओ। इसको आप ये थोड़े ही कहेंगे कि अब ये इंसान उस अर्थ में बेपरवाह हो गया है जिस अर्थ में नानक साहब ने 'बेपरवाही' शब्द का इस्तेमाल किया है। ऐसे देखे हैं न? काम पूरा करके सोना है, और आप जान रहे हो कि काम पूरा करके नहीं सोए तो नुकसान भी है और अपमान भी है, पर आप कहते हो, "नुकसान भी झेल लेंगे और अपमान भी झेल लेंगे"। ये संतत्व का सबूत नहीं है।

एक फकीर भी बैठ जाता है सड़क किनारे और एक शराबी भी शराब पीकर सड़क में लोट जाता है, दोनों एक बराबर हो गये?

हम जैसे लोग हैं, हमें संतुष्टि नहीं, हमें गहरी असंतुष्टि चाहिए। संतोष हमारे लिए ठीक नहीं है। जो बात आपने करी कि, "जैसा चल रहा है चलने दो, आज की रोटी मिल गयी, कल का कल देखेंगे," वो हमारे लिए बिल्कुल ठीक नहीं है। हमारे भीतर तो बेचैनी होनी चाहिए, असंतोष होना चाहिए। हमें व्याकुल होना चाहिए कि ये कैसी हालत में हैं हम!

छटपटाहट होनी चाहिए। हमारे चेहरे पर आपातकाल के लक्षण होने चाहिए। हमारे चेहरे वैसे होने चाहिए जैसे पानी में डूबते हुए इंसान के होते हैं। हमारे चेहरों पर शांति और संतोष शोभा नहीं देते। हमारे चेहरों पर तो अकुलाहट चाहिए।

बुद्ध की शांति वास्तविक शांति है। और एक तमो गुणी की शांति उसके नर्क को बरकरार रखती है। वो नर्क में है और शांत है, नतीजा क्या निकलेगा? नर्क कायम रहेगा। अरे, जब तुम नर्क में हो तो चेहरे पर उत्तेजना आनी चाहिए, उद्वेलन आना चाहिए, विद्रोह आना चाहिए, आँखों में आँसू होने चाहिए, बाजू फड़कने चाहिए। एक पल तुम्हें चैन से नहीं बैठना चाहिए। हँसना-मुस्कुराना सब बंद हो जाना चाहिए। लगातार एक ही धुन बजती रहे, "मुझे अपनी हालत को बदलना है, मैं हँस कैसे सकता हूँ अभी?”

अजीब-सी नहीं बात है? मीरा के पद पढ़ो तो वो हर पद में बोलती हैं कि आँखें रो-रो के सूज गयी हैं। अविरल धार बह रही है, और यहाँ हम हैं, हम हँसे जा रहे हैं। मीरा रो रहीं हैं, हमारी हँसी ही नहीं थमती। हँसना शोभा नहीं देता। हमें तो लज्जित होना चाहिए। हमें तो लगातार प्रेरित होना चाहिए। फ़रीद से जाकर पूछो तो कहेंगे, "रात भर जग रहा हूँ"। हमें नींद आ जाती है। और फ़रीद रात भर जगते भी हैं और उसके बाद कहते हैं, "रात भर जग के भी क्या कर लिया? ये कुत्ते भी रात भर जगते हैं।" अब वो प्रेरित होते हैं कुछ और करने के लिए। वो कहते हैं, "ये तो बात बनी नहीं! कुछ और करूँ! कोई भी यतन करूँ पर अपनी स्थिति को बदलूँ। ऐसे कैसे जिए जा रहा हूँ?”

तुम ठंडे मत पड़ जाना। तुम मत कहने लग जाना - "संतोषम परमं सुखम"। तुम्हारे लिए नहीं है वो उक्ति। तुम तो जलो! भीतर से लगातार दाह उठे!

कितनी ही बार कबीर साहब ने चेताया है न कि, "क्या सुख-चैन से सो रहे हो? यहाँ तुम्हारे नर्क की तैयारी चल रही है और तुम सोए पड़े हो, और सुख मना रहे हो, और बड़े चैन में हो!” जैसे कसाई के यहाँ खड़े हुए दो बकरे, एक दूसरे को चुटकुले सुना रहे हैं, और एक मरा हुआ मुर्गा दोनों की गुदगुदी कर रहा हो।

उठो! और विद्रोह करो। ज़ंजीरें तोड़ो, हँसो नहीं। हँस के तो अपनी ऊर्जा को बहाए दे रहे हो। तुम्हारी मुस्कुराहट में भी आग रहे। देखी है ऐसी मुस्कुराहट? स्वतंत्रता सेनानियों की देखो, जाँबाज़ों की देखो, शहीदों की देखो। वो मुस्कुराते भी हैं तो ऐसे जैसे होठों पर तलवार रखी है। मुस्कान में भी धार होती है।

सिकंदर ने जब पोरस से पूछा होगा - "मार दिया जाय कि छोड़ दिया जाय, बोल तेरे साथ क्या सुलूक किया जाय?" पोरस मुस्कुराया ज़रूर होगा। देखो कि वो मुस्कान कैसी थी। मुस्कुराओ, तो वैसे मुस्कुराना सीखो। जैसे आत्मा प्रकट हो गयी हो होठों पर, ऐसे मुस्कुराएँ।

भगत सिंह, आज़ाद, खड़े हैं न्यायालय में, और उनसे सवाल किए जा रहे हैं, और वो मुस्कुरा रहे हैं। वैसे मुस्कुराना सीखो। वहाँ ऊपर बैठे हैं न्यायमूर्ति और पूछ रहे हैं, "नाम क्या है?" और क्या जवाब आ रहा है? "आज़ाद”। मुस्कुरा के ही बोला होगा। अदालत के खातों में चंद्रशेखर का नाम आज़ाद नहीं लिखा हुआ था, पर अदालत ने जब सवाल किया, "नाम बताओ?” तो बोल रहे हैं, "आज़ाद”। मुस्कुराकर बोला होगा। मुस्कुराना है तो वैसे मुस्कुराओ।

(एक श्रोता मुस्कुराते हैं)

इतनी स्थूल नहीं, बड़ी झीनी मुस्कुराहट होती है। और भगत सिंह को जब फाँसी की सज़ा सुनाई गयी होगी, तो तुम्हें क्या लगता है, क्या किया होगा उन्होंने? मुस्कुराए होंगे। वैसे मुस्कुरा सकते हो तो मुस्कुराओ अन्यथा मत मुस्कुराओ। चुटकुले तुम्हें बहुत पसंद हों अगर तो मुस्कुराना तब जब मौत भी चुटकुला बन जाए तुम्हारे लिए। छोटे-मोटे चुटकुलों में क्या रखा है!

बोधिधर्म पर जब ज्ञान उतरा था तो उसने महा अट्टहास किया था; हँसता ही गया, हँसता ही गया। ऐसी हो तुम्हारी हँसी तो ठीक है अन्यथा मत हँसो। वो बोध की हँसी थी। वैसे हँसो। हँसने में बुराई नहीं है। हमारे हँसने के पीछे तमसा बैठी होती है, अंधकार बैठा होता है, निरा अज्ञान। अब एक तो अज्ञानी हो और दूसरे दाँत फाड़ रहे हो, झपड़िया दिए जाओ, यही तुम्हारी गत होनी चाहिए।

हँसी से मुझे कोई समस्या नहीं है, हँसी मीठी बात है। पर असली तो हो! नकली तो जो कुछ भी है, वो व्यर्थ ही है न? वो थोड़े ही कह रहे थे कि, "जो हाल है ठीक है, क्या ज़रूरत है मेहनत करने की? चलने दो न जो चल रहा है। सब परमात्मा की लीला है। अरे, उसकी बनायी दुनिया है, हम बदलने वाले कौन होते हैं? वो सर्वशक्तिमान है, तो जो कुछ हो रहा है उसकी मर्जी से ही हो रहा होगा। दुनिया का कर्ता कौन है? वो। तो हम क्यों बिगुल बजाएँ विद्रोह का? ये जो कुछ हो रहा है इसके खिलाफ विद्रोह किया तो परमात्मा के खिलाफ विद्रोह होगा। तो दुनिया सड़ती है, देश सड़ता है, जनता सड़ती है, सड़ने दो, हमें क्या करना है? सब पराधीन है, पराजित है, पराश्रित है, पड़े रहने दो।"

सच तो निराकार, निर्गुण, अदृश्य; वो तुम पर उतरा है, उसकी तुम पर कृपा हुई है, उसका प्रमाण एक ही होगा कि तुम अब माया के खिलाफ खड़े हो गये हो। सच के साथ होने का और कोई प्रमाण होता ही नहीं है। सच का हाथ पकड़ोगे? हाथ तो हैं ही नहीं उसके। तो कैसे दिखाओगे कि सच के साथ हो? मौखिक क्रांति करोगे कि "हम तो सच के साथ हैं"? ऐसे नहीं होती। सच के साथ होने का व्यवहारिक अर्थ ही यही होता है कि अब तलवारें बाहर आ गयी हैं और माया से बगावत है।

अब तुम शाब्दिक मिठाई लुटा रहे हो, "ये लीजिए रसगुल्ले; ये बर्फी आपके लिए"। मैं एक को जानता हूँ, वो

मिठाइयों की फोटो खींच-खींच कर भेजता है, और लोग जवाब में 'थैंक्यू (धन्यवाद)' भी बोलते हैं। "सम सोनपापड़ी फॉर यू (आपके लिए कुछ सोनपापड़ी)"। तस्वीर आ गयी है। लोग जवाब में कह रहे हैं, "शुक्रिया"। ऐसे नहीं होता है सच का साथ कि हम भी सत्यवादी हैं! तलवार दिखनी चाहिए, तलवार से टपकता लहु दिखना चाहिए, तब साबित होगा कि हाँ, तुम सच के साथ हो।

....

(उत्तराखंड, 2017)

अपनी हैसियत जितनी ही चुनौती मिलती है सबको

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, प्रणाम। कई सालों से साधना कर रहा हूँ, कुछ समय से आपको सुन रहा हूँ, जीवन में स्पष्टता बहुत हद तक आई है। अब जैसे-जैसे आगे बढ़ता जा रहा हूँ, मेरी बीमारियों का पता चल रहा है। जैसे साधना में आगे बढ़ रहा हूँ, माया का हमला उतना ही ज़ोर से हो रहा है। साधना में और आगे बढ़ने के लिए मुझे क्या सावधानियाँ रखनी ज़रूरी हैं कि मैं साधना में आगे लगातार बढ़ सकूँ? कृपया बताएँ।

आचार्य प्रशांत: एक ही सावधानी है - आगे बढ़ते रहो, रुक मत जाना।

और माया का हमला कोई ज़ोर-वोर से नहीं हो रहा है तुम पर। 'ज़ोर' का अनुभव होना बड़ी व्यक्तिगत चीज़ होती है, व्यक्ति-सापेक्ष होती है। एक छोटा-सा बच्चा हो, उसको ज़रा-सा धक्का दे दो तो वो चिल्लाता है, “अरे! इतनी ज़ोर का धक्का दिया रे!” और पहाड़ को दे लो जितनी ज़ोर का धक्का देना है, उसे कुछ पता नहीं चलता।

साधना के आरंभ में भी माया की ओर से विरोध आता है, साधना के मध्य में भी आएगा, और साधना के अंत में भी

आएगा। आरंभ में छोटा विरोध आएगा, मध्य में बड़ा विरोध आएगा, अंत में और बड़ा आएगा। और जब भी आएगा, वो तुम्हें 'बड़ा' ही लगेगा। क्यों? क्योंकि जीवन का एक सूत्र अच्छे से समझिए और याद रखिए - आपको अपनी हैसियत से ज़्यादा बड़ी चुनौती मिलेगी ही नहीं। 'हैसियत' से मेरा तात्पर्य – रूपए, पैसे इत्यादि से नहीं है। समझ ही रहे होंगे। मैं 'आतंरिक' सामर्थ्य की बात कर रहा हूँ।

माया भी आपके आतंरिक सामर्थ्य को देख कर आप पर वार करती है। जो बिल्कुल ही निस्तेज लोग होते हैं, अशक्त और सामर्थ्यहीन, उनपर माया का वार भी छोटा-ही-छोटा होता है। माया कहती है, "इनपर ज़ोर का क्या वार करना? इनमें दम ही कितना है!" लेकिन उनको माया का वो छोटा-सा वार भी कैसा लगता है? बहुत बड़ा! क्योंकि उन बेचारों की आतंरिक हैसियत ही बहुत छोटी है। जैसे समझ लो कि तुम्हारी आतंरिक हैसियत अगर एक इकाई की है, तो तुम पर माया का वार भी उसी अनुपात में एक इकाई का होगा। एक यूनिट की अगर तुम्हारी आतंरिक हैसियत है, तो माया भी तुम्हें एक यूनिट के प्रपोर्शनल ही झटका मारेगी, उसी अनुपात में।

फिर जब तुम्हारी आतंरिक औकात बढ़ेगी, तो माया कहेगी, "अरे, बहुत बढ़ रहा है!" अब बढ़कर तुम्हारी औकात हो गयी है पाँच यूनिट की, तो वो तुम्हें झटका भी कितना मारेगी? पाँच यूनिट का। पर जब तुम एक यूनिट के थे, तब भी तुम यही कहते थे, "ज़ोर का झटका लगा!" और जब तुम पाँच यूनिट के हो जाओगे, तब भी तुम यही कहोगे कि ज़ोर का झटका लगा — क्योंकि एक के लिए एक का झटका ज़ोर का है, और पाँच वाले के लिए पाँच का झटका ज़ोर का है।

एच/एम = कांस्टेंट

(एच बाय एम् इज़ ईक्वल टू कांस्टेंट)

'एच' माने हैसियत और 'एम' माने माया का झटका।

एच/एम = कांस्टेंट

समझ में आ रही है बात?

जितना तुम साधना में आगे बढ़ते जाते हो, उतना तैयार रहना, माया और बड़े-बड़े झटके मारती है। बड़े लोगों को छोटी चीज़ वैसे भी शोभा देती नहीं न? अब बड़े आदमी हो गये हो भाई, तो चोट भी तुम्हें अब कैसी मिलेगी? बड़ी मिलेगी! छोटे लोगों को छोटी चोट, बड़े लोगों को बड़ी चोट। बात न्याय की है।

चलते रहो, और कोई सूत्र नहीं है। माया अपने झटके कम नहीं करने वाली।

वास्तव में माया है क्या? तुम्हारा ही जो अतीत तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है, तुम्हारी ही जो ग्रंथियाँ, वृत्तियाँ तुम्हारे भीतर बैठी हुई हैं, वही तो माया हैं! माया कोई इधर-उधर थोड़े ही घूम रही है कि राशन-कार्ड, आधार-कार्ड लेकर, कि, "ये आ रही हैं जी माया श्रीवास्तव!"

माया क्या है? हमारे ही भीतर जो सब कलुष जमा है, उसका नाम माया है। उसको जितना रगड़ते हो, उतनी तकलीफ होती है। यही बात मैं कह रहा हूँ — थोड़ा रगड़ोगे, थोड़ी तकलीफ होगी, और अगर सफाई पसंद आदमी हो, ज़्यादा रगड़ोगे, ज़्यादा तकलीफ होगी। जिन्हें सफाई से प्यार हो, उन्हें तकलीफ झेलने के लिए तैयार रहना होगा।

प्र१: आचार्य जी, नमस्कार। मेरे मन में एक प्रश्न है कि यदि मैं हर समय कृष्ण को याद रखता हूँ, तो ये कैसे मुमकिन है? अगर मैं पढ़ रहा हूँ या खेल रहा हूँ तो खुद को मैं कैसे याद दिलाऊँ कि ये कृष्णमय है? किसी भी कर्म के फल से मैं अनछुआ नहीं रह पाता। इसका क्या समाधान है? कृपया मेरी सहायता कीजिए।

आचार्य: ये बड़ी गड़बड़ हो जाएगी अगर जो कर रहे हो, करते-करते बार-बार कृष्ण का विचार करोगे।

(प्रश्नकर्ता के संदर्भ में पूछते हैं) कौन हैं, बताइए?

(प्रश्नकर्ता अपना हाथ उठाकर बताते हैं कि ये सवाल उनका है)

ऐसे नहीं करते, गन्दी बात! कृष्ण का विचार थोड़े ही करना होता है कुछ भी करते हुए।

कृष्ण विचारों में नहीं होते, कृष्ण विचारों के केंद्र पर होते हैं। विचारों में तो कुछ भी चले, विचारों का केंद्र कृष्णत्व का होना चाहिए।

विचारों में ही कृष्ण आ गये, ये कोई भली बात नहीं हुई। विचारों में कृष्ण का आना जानते हो कैसा हो जाएगा? जैसे कि तुम्हारे घर में ये जो एलपीजी. सिलेंडर होता है, इसकी गैस की गंध आ जाए। ये शुभ है या अशुभ लक्षण है? घर में एलपीजी. का सिलेंडर होता है न? और तुम घर में घुसो और तुम्हें गैस की गंध आ रही है, ये शुभ है मामला या अशुभ है? तो कृष्ण को भी ऐसे ही होना चाहिए, सिलेंडर के अन्दर-अन्दर—वहाँ से वो ऊर्जा दें, अग्नि दें, ताक़त दें। पर अगर वही निकलकर के घर भर में फैल गये तो बड़ी दिक्कत हो जाएगी। अब विस्फोट और होगा। विस्फोट नहीं भी हुआ तो बदबू!

बात समझ में आ रही है?

कुछ लोगों की गाड़ियों में पेट्रोल-डीज़ल की गंध आती है। किसकी-किसकी गाड़ी ऐसी है, या कभी हुआ है ऐसा कि गाड़ी में घुस रहे हैं और केबिन में घुसते ही पेट्रोल की गंध आई या डीज़ल की गंध आई? ये शुभ है कि अशुभ है? ये ऐसा ही है जैसे कृष्ण विचारों में आने लग गये। उनको होना कहाँ चाहिए था? टंकी में। जहाँ से वो पूरे इंजन को ताक़त देते। उसकी जगह वो कहाँ आ गये? हवाओं में आ गये, विचारों में आ गये। ये बड़ी गड़बड़ हो गयी!

लेकिन यही सब कार्यक्रम चल रहा है, और इस तरह की शिक्षाएँ भी घूम रही हैं, "कृष्ण का विचार करो!" विचार नहीं करना होता। उनको वहाँ रखना होता है जहाँ से वो हमें पूरे तरीके से अपने अधिकार में लेकर संचालित कर सकें। और वहाँ वो होते ही हैं, वहाँ से वो कभी हटे ही नहीं, वो जगह ही उनकी है — उसी का नाम सत्य, उसी का नाम आत्मा है।

हमें बस उस जगह के निकट जाना होता है। तुम कृष्ण को अपने निकट लाने की कोशिश मत करो! अगर तुम कृष्ण को अपने निकट लाने की कोशिश करोगे तो क्या करोगे? कृष्ण का विचार। ये गलत हो जाएगा। तुम कृष्ण के निकट जाओ, फिर तुम्हारे सारे विचार कृष्णमय हो जाएँगे।

विचारों में कृष्ण का होना बिल्कुल एक बात है, और विचारों का कृष्णमय हो जाना बिल्कुल दूसरी बात है।

विचारों के कृष्णमय हो जाने का अर्थ ये नहीं है कि तुम कृष्ण के बारे में अब सोचोगे। उसका अर्थ होता है कि अब तुम्हारे सब विचारों में शुभता और सम्यकता रहेगी। दिनभर तुमने कृष्ण के बारे में एक पल नहीं सोचा, लेकिन तुम्हारे सारे विचार शुभ थे, इससे पता चलता है कि तुम्हारे विचार कृष्णत्व के स्रोत से निकल रहे थे।

ये बात समझ में आ रही है कि नहीं आ रही है?

कृष्ण विचार का विषय नहीं हो सकते; कृष्ण को विचार का स्रोत होना होगा।

हम उलटा करते हैं। हम विचार का स्रोत तो बदलना ही नहीं चाहते। हमारे विचार का क्या स्रोत होता है? अहंकार। स्रोत वही बना रहता है, और उसी स्रोत से विचार उठ रहा है, हमने उस विचार का विषय किसको बना लिया? कृष्ण को। अब हम कह रहे हैं, "मैं तो कृष्ण भक्त हूँ। हरे रामा! हरे कृष्णा! मैं तो कृष्ण को इतना पूजता हूँ। ये... वो..." तुम ये बताओ, तुम्हारी ज़बान पर तो कृष्ण हैं, तुम्हारे विचार में भी कृष्ण हैं, तुम्हारी आत्मा में कृष्ण हैं क्या? आत्मा में कृष्ण नदारद हैं! आत्मा में कृष्ण नदारद हैं, कृष्ण कहाँ हैं? विचारों में हैं, और ज़ुबान में हैं। ये कोई अच्छी

बात नहीं है।

कृष्ण को जानने वाला या कृष्ण को पूजने वाला वो हुआ जिसे आवश्यकता ही न पड़े कृष्ण का नाम लेने की या कृष्ण का विचार करने की। कृष्ण हृदय में बैठे हैं, वो कृष्ण के पास जाकर बैठ गया है, अब उसके सारे कर्म और सारे विचारों में किसका रंग है? कृष्ण का रंग है।

एयर कंडीशनर चल रहा हो कहीं पर, आप क्या चाहते हो, ए.सी. ठंडी हवा फेंके या ए.सी. में जो गैस होती है, ए.सी. वही फेंक दे? बोलो। गैस तो अन्दर ही रहनी चाहिए न? पर हमने उलटा चक्कर चला दिया है। हम कहते हैं कि बात तब है जब ए.सी., भीतर जो गैस भरी हुई है उसके, वो फेंक दे। क्लोरोफ्लोरोकार्बन होते हैं उसमें! उन्हीं से ओज़ोन में छेद हो गया था!

इशारा पकड़ पा रहे हैं?

यहाँ (होंठों की ओर इशारा करते हुए) से कृष्ण-कृष्ण करने से क्या होगा? और यहाँ (माथे की ओर इशारा करते हुए) पर भी कृष्ण का विचार करने से क्या होना है?

अहम् को बोलिए - नतमस्तक रहे।

अहम् को बोलिए - अपनी सीमा में रहे।

अहम् को बोलिए कि समझे कि वो क्या है और कहाँ से आया है।

अहम् से बोलिए - "जाओ, अपने पप्पा का नाम पता करके आओ!"

पप्पा का नाम क्या है? कृष्ण!

उसके बाद अब अहम् जो कुछ भी करेगा, उसमें कृष्णत्व होगा, क्योंकि किसने करा? अरे भाई, अब अहम् को अपने पप्पा का नाम पता चल गया न? तो अहम् के नाम के साथ अब किसका नाम लगा हुआ है? पप्पा का नाम लगा हुआ है। तो जो कुछ भी करा, किसने करा?

किसने करा?

प्र१: कृष्ण ने।

आचार्य: आपका पूरा नाम क्या है?

प्र१: सागर साहू।

आचार्य: सागर साहू।

तो अक्सर ऐसा होता है कि नहीं कि आप जब कुछ करते हो तो लोग कहते हैं, “साहू जी ने किया”? इनका नाम है - सागर साहू। तो आप जब करते हो कुछ, तो लोग ऐसे कह देंगे न कि, “साहू जी ने ऐसा किया”? कोई पूछेगा, “कौन आया था?” तो कह देंगे, “साहू जी आए थे”। आपकी कुछ बातें हैं कहीं लिखी हुई, कोई पूछेगा, “ये किसके विचार हैं?” तो लोग कह देंगे, “साहू जी के विचार हैं”। है न? उन विचारों में ‘साहू जी’ लिखा हुआ नहीं है। 'साहू जी' के बारे में नहीं बात की गयी है। उन विचारों का विषय नहीं हैं - 'साहू जी'। पर वो विचार कहाँ से आए हैं? कहा जाएगा, “साहू जी से आए हैं”। इसी तरीके से जब हमें पता चल जाता है परमपिता का नाम, तो हम जो कुछ भी कर रहे होते हैं, वो किसने किया? (ऊपर की ओर इशारा करते हुए) साहू जी ने किया! और साहू जी कौन हैं? वो हमारा नाम नहीं है। वो किसका नाम है? वो परमपिता का नाम है। वो हमारे नाम के साथ जुड़ गया। तो हम जो कुछ भी कर रहे हैं वो उन्होनें ही किया।

“किसने किया?”

“साहू जी ने किया।”

पर ये बात सतही नहीं होनी चाहिए, ये बात बस औपचारिक नहीं होनी चाहिए; ये बात गहरी होनी चाहिए कि मुझे पता चल गया है कि मेरा वास्तविक पिता कौन है, तो अब मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, उसको करने का श्रेय किसका है वास्तव में? वो पिताजी का है।

“किसने किया?”

“साहू जी ने किया।”

लगेगा ऐसा जैसे 'मैं' कर रहा हूँ, वास्तव में कौन कर रहा है? (ऊपर की ओर इशारा करते हुए) वो कर रहे हैं!

हर विचार मेरा अब सम्यक है; हर कर्म मेरा अब सम्यक है — यही है विचारों में कृष्णता का होना; यही है जीवन में कृष्णता का होना।

....

(मुंबई, 2019)

भूखे मर जाना गुलामी की रोटी मत खाना

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, युवा लोगों को सबसे पहले अपने करियर (व्यवसाय) पर ध्यान देना चाहिए या मुक्ति पर ध्यान देना चाहिए? जब अंतिम लक्ष्य मुक्ति है तो क्या उसके बारे में प्रयत्न करते रहना चाहिए या नहीं?

आचार्य प्रशांत: दोनों अलग-अलग आयाम की बातें हैं, बेटा।

शरीर है न तुम्हारे पास? शरीर है तो खाते भी होगे। तो जीविका कहीं से तो कमानी पड़ेगी न? इसीलिए जीविका का प्रश्न हल्के में नहीं लिया जा सकता। और जिस युग में तुम जी रहे हो, उसमें मात्र तुम्हें खाने को दो रोटी ही नहीं चाहिए, तुम्हें थोड़ा-बहुत और भी कुछ चाहिए। सड़क पर नहीं जी पाओगे। जंगल आदमी ने सब काट दिए तो जंगल भी कैसे जाओगे? पहले तो था कि जंगल जाएँगे, नदी में नहाएँगे। अब नदी तो नाला बन गई है। नहाओगे भी कैसे अगर पैसा नहीं है? बताओ, कब नहाओगे? या इंतज़ार करोगे कि अभी अप्रैल चल रहा है और मानसून आने ही वाले हैं दो महीने में! और उसमें भी अब एसिड रेन (अम्लीय वर्षा) होती है; गये थे नहाने, छाले लेकर आ गये।

तो सिर्फ जीने के लिए ही सही, कुछ तो कमाना पड़ेगा न?

तो बात ये नहीं है कि, "'मुक्ति' पर ध्यान दें या 'करियर' पर ध्यान दें?" शरीर लिए हो तो आजीविका के प्रश्न का उत्तर तो तुम्हें देना पड़ेगा। हाँ, आजीविका तुम इस तरह से चलाओ कि वो मुक्ति में सहायक रहे, वो मुक्ति की तरफ उन्मुख रहे, कि आजीविका भी चल रही है लेकिन रोटी ऐसे नहीं कमा रहे कि राम की ख़िलाफ़त करनी पड़ रही है। दोनों काम एक साथ हो रहे हैं: खाना भी चल रहा है और ख़िदमत भी चल रही है। खा भी रहे हैं और ख़िदमत भी कर रहे हैं।

जो गुलामी की रोटी खा रहा हो, उसे परम मुक्ति की बातें शोभा ही नहीं देतीं। परमात्मा भी मुस्कुरा कर पूछेगा कि रोटी तक तो तू गुलामी की खाता है, और बातें करता है मुक्ति की!

(एक श्रोता की ओर इशारा करते हैं) समझ रही हैं?

ये बाजू क्यों दिए गये हैं? ये किसलिए हैं शरीर में? श्रम करने के लिए हैं न? तो जिसने पेट में आँत दी है, जहाँ भूख उठती है, उसी ने हाथ में माँसपेशियाँ भी दी हैं, जो खाना अर्जित कर सकती हैं। अब खाना अर्जित करो-न-करो, बाजुओं का इस्तेमाल करो-न-करो, आँतों का इस्तेमाल तो रोज़ करते हो, कि नहीं करते? या तो ये कह दो कि हम काम नहीं करते और भोजन भी नहीं करते। पर नहीं साहब, आँत का इस्तेमाल तो रोज़ करते हो और बाजू का इस्तेमाल कहते हो, "क्यों करें? जीवन का लक्ष्य तो मुक्ति है, तो श्रम क्यों करें?" मत करो श्रम, खाओ भी मत!

और मैं नहीं कह रहा हूँ कि पूंजीवादी हो जाओ, धन्ना सेठ हो जाओ, लाखों-करोड़ों कमाओ, पर इतना तो कमाओ कि रोटी मात्र के लिए तुम्हें सर न झुकाना पड़े। इतना तो कमाओ कम-से-कम। लालचवश मत कमाओ, धर्मवश कमाओ ; दोनों में अंतर है। एक आदमी लालच के लिए कमाता है; बहुत हैं ऐसे जो लालच के मारे और भय के मारे कमाते हैं। वैसे मत हो जाओ। पर कमाया ही नहीं और इसलिए अधर्म के सामने झुकना पड़ा, तो गड़बड़ हो जाएगी न? इसलिए धर्मवश कमाओ, और धर्मवश कुछ कहा नहीं जा सकता कितना कमाना है। हो सकता है बहुत कम में काम चल जाए, और कभी-कभी धर्म की माँग होती है कि बहुत चाहिए, तो बहुत भी लाओ।

प्र१: आपने जो अभी बात कही, मैं उसपर अपने विचार व्यक्त करना चाहता हूँ। जैसे उन्होंने (दूसरे प्रश्नकर्ता) ने कहा कि "मोक्ष अंतिम लक्ष्य है" और हम जानते हैं अंदर से कि मोक्ष अंतिम लक्ष्य है, उससे ऊपर नहीं है कुछ, तो अगर सन्यास भी ले लिया जाये तो उसमें क्या हर्ज है? क्योंकि मेहनत तो उस समय भी आदमी कर रहा है, ऐसा नहीं है कि वो संन्यास लेकर वेला है। वो एक मार्ग पर चल रहा है, वो अपनी साधना कर रहा है। इसपर थोड़ा-सा आप प्रकाश डालिए।

आचार्य: सन्यास माने क्या?

प्र२: जैसे सन्यासी सन्यास लेते हैं। सन्यास माने वो सन्यास लेकर अपनी साधना कर रहा है, लेकिन रोटी नहीं कमा रहा।

आचार्य: तुम रोटी नहीं कमा रहे हो तो कहीं से तो लाओगे रोटी?

प्र२: माँग के लाओगे फिर।

आचार्य: कोई मुफ़्त में देगा? कितने दिन मुफ़्त में देगा?

प्र: भारतीय परंपरा भी कई बार कुछ मदद कर देती है।

आचार्य: भारतीय परंपरा ये भी कहती है कि जो बोलो, सोच समझ के बोलो।

ऐसे नहीं होता कि तुम्हें जीवन भर हट्टा-कट्टा जवान आदमी देखकर भी कोई रोटी ही दिये जाए। दूसरी बात, तुम अभी साधक हो, सिद्ध तो हो नहीं गये। जो सिद्ध नहीं हो गया, उसकी इच्छाएँ क्या मात्र रोटी तक सीमित रहेंगी? तुम मुक्ति की कामना रख रहे हो, मुक्त तो हो नहीं गये। जब मुक्त हो नहीं गये, तो तुम्हारी इच्छा क्या रोटी तक ही रुक जाएगी? रोटी भी मुफ़्त नहीं मिलती तो आगे की चीज़ें क्या मुक्त मिलेंगीं, भाई? जो तुम्हें देगा, वो फिर तुम्हारे गले में पट्टा भी बाँधकर रखेगा।

साधक के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता परम आवश्यक है। इस बारे में किसी को कोई गलतफ़हमी न रहे। जो रोटी के लिए भी परतंत्र है, वो आत्मिक तौर पर स्वतंत्र नहीं हो सकता।

और इसका मतलब ये नहीं है, फिर दोहरा रहा हूँ, कि तुम्हें लाखों-करोड़ों कमाने चाहिए। पर कम-से-कम इतना कमाओ कि कोई तुम्हारी साधना में व्यवधान न डाल सके। जगत की कोई ताकत तुमसे आकर ये न कह सके कि हमारा खाते हो तो हमारे अनुसार जिओ।

ये बड़ा रूमानी सपना रहता है कि, "हम सन्यासी हो जाएँगे, और जैसे बुद्ध के चेले थे, बोलेंगे, 'भिक्षाम देहि', और द्वार से सुंदरी प्रकट होगी पात्र लेकर के, दाल-चावल, और हमारी अंजुली में डाल देगी और हम बिल्कुल नयन नीचे करे, मुक्त पुरुष की तरह खड़े रहेंगे।" बेटा, वो घर तो अब होते नहीं। अब तो सोसाइटी हैं, और वहाँ गार्ड (चौकीदार) हैं बाहर। वहाँ बोलोगे, "भिक्षाम देहि"। बहुत मारेगा!

तो कमाना सीखो। पहले की बात दूसरी थी—खेत थे, उपवन थे, बाग थे—किसी को कुछ नहीं मिला तो फल-फूल पर ही निर्वाह कर सकता था। तुम बताना, यहाँ कहाँ तुम्हें आम और लीची के भरे हुए वृक्ष मिल रहे हैं, कि भिक्षा नहीं मिली तो कोई बात नहीं, आज एक आम ही सही? एक बढ़िया आम कितने रुपए का आता है? अब तो आम बाज़ार में ही मिलेगा। और बाग में मिलेगा तो उसके आसपास कुत्ते घूम रहे होते हैं। वो गिरा हुआ आम भी किसी दूसरे जानवर को न खाने दें, पेड़ वाला आम तो छोड़ दो! किसान अपने फलों पर रसायन मल के रखते हैं कि चिड़िया भी उसको न खाये, नहीं तो तोते वगैरह आकर के चोट मारते हैं तो किसान उसपर मल देते हैं चीज़ें। और भी अगर बड़ा और मूल्यवान फल होता है तो उसको बाँध देते हैं। अब वो ज़माना थोड़े ही है कि सन्यासी होकर निकले तो—गंगा का किनारा और फलदार वृक्ष, और चाहिए ही क्या? जाओ ऋषिकेश, गंगा के किनारे लेटो, पुलिसवाला दो डंडा लगाएगा। जाओ लेट के दिखाओ।

तो कमाओ!

भारत के सपूतों, मुक्ति की बात बाद में करना, पहले कमाओ!

प्र३: आचार्य जी, सरकारी नौकरी में भी कुछ नौकरी ऐसी रहती हैं कि न जाएँ महीने भर ऑफिस और तनख्वाह आ रही है। तो वो आदमी क्या करे?

अन्य प्रश्नकर्ता: इसी के ख़्वाब में तो सभी हैं...

प्र३: यह बहुत खराब ख़्वाब है। जो लोग इस स्थिति में हैं कि तनख्वाह आ जाती है, और लगता है कि पैसा तो आ ही जाता है महीने का, वो बिल्कुल अकर्मण्य हो गये हैं। और अकर्मण्य हो गये, तब भी पैसा आ रहा है। वो लोग कैसे अपने जीवन को दिशा दें?

आचार्य: उनके जीवन का तो बड़ा अनुपम उद्देश्य है। उनके जीवन को देखकर के हज़ारों लोगों को चेतावनी मिलनी चाहिए कि ऐसा नहीं हो जाना है। वो तो अंधेरे में लाइट हाउस (प्रकाश स्तम्भ) हैं, कि इनको देखो और ऐसा बिल्कुल नहीं होना है। इनको गौर से देखो कि ये कैसे हैं; कुछ नहीं करते और फिर भी महीने के अंत में बैंक में पैसा आ जाता है।

मर जाना पर ऐसे मत हो जाना; भूखे मर जाना पर मुफ़्त की रोटी मत खाना!

ये बात अच्छे से समझ लो। मेहनत ज़्यादा करो और कम फल मिले, चलेगा, कि बहुत मेहनत करते हैं, पैसा थोड़ा-

सा मिलता है, चलेगा। पर मेहनत इतनी-सी कर रहे हो और पा इतना (ज़्यादा) रहे हो, ये बिल्कुल नहीं ठीक है। ये तुम्हें बर्बाद कर देगा। और ऐसी चीज़ों के बड़े घातक दुष्परिणाम देखने पड़ते हैं।

जहाँ कहीं भी अनर्जित धन होता है, वेल्थ विदाउट वर्क (बिना काम के धन), वहाँ बड़ी बीमारियाँ फैलती हैं। सबसे पहले तो उस घर के बच्चे बर्बाद होते हैं। जहाँ कहीं भी अनअर्णड मनी है या इल गोटन मनी है, या तो ऐसी तनख्वाह आ रही है जिसके लिए तुमने मेहनत नहीं करी या ऊपरी कमाई, घूस, रिश्वत, काला धन इत्यादि आ रहा है, उस घर में बड़ा नर्क उतरता है। मैंने कहा सबसे पहले तो ऐसे घरों के बच्चे बर्बाद होते हैं। घर में हर तरह का कलह-क्लेश फैलता है। वो भले ही ये सोचते रहें कि, "देखो, हम कितने चालाक हैं, हम कुछ करते नहीं और फिर भी इतना सारा पैसा आ जाता है," उनको पता ही नहीं है कि उनकी चालाकी कितनी बड़ी मूर्खता है। उन्हें नहीं पता कि उनकी चालाकी कितनी भारी पड़ रही है उनको।

उन्हें पता ही होता तो वो ये चालाकी करते ही क्यों?

प्र३: उनको तो ये लगता है कि चालाकी न करें तो मूर्ख हैं। और जो कर रहे हैं, लगता है कि वही होशियार हैं।

आचार्य: और वो लोग जो बीच के बिच्छू हैं, फेंस सिटर्स (बाड़ बैठनेवाला) हैं, वो ऐसों को देखकर अक्सर प्रभावित हो जाते हैं, और कहते हैं, "ऐसा ही जीवन हमें भी चाहिए। करना कुछ नहीं है और माल पूरा है।" तो ऐसे कुछ लोग पूरे समाज के लिए बड़ा रुग्ण उदाहरण बनते हैं। मोहल्ले में अगर ऐसा एक हो तो पूरा मोहल्ला तबाह हो जाता है।

संतो ने समझाया है, जिस रोटी पर तुम्हारा हक है, उसको भले छोड़ दो। छोड़ दो! कभी ऐसी नौबत आ जाए कि किसी को देनी पड़े, दे दो। कभी ऐसी नौबत आ जाए कि कोई तुम्हें ठग गया, सहर्ष ठगे जाओ, छोड़ दो! लेकिन ये कभी मत करना कि जिस रोटी पर तुम्हारा हक नहीं, उसको तुमने खा लिया।

कहानी सुनी है न: एक फकीर के सामने रोटी लाई गयी थी, एक धनाढ्य सेठ के द्वारा। बोला, "नहीं खाऊँगा"। सेठ बोला, "क्या बात है? क्या बात है?" तो कहानी कहती है कि उसने (फ़क़ीर ने) रोटी ली और यूँ निचोड़ दिया। उसमें से खून गिरा।

उस रोटी में खून है! और मैं नहीं कह रहा हूँ कि तुमने दूसरे का हक मारा क्योंकि ये बात तुम्हें कभी समझ में नहीं आएगी कि जो रोटी तुम मुफ़्त की पा रहे हो, वो तुमने किसी का हक मारा है। अर्थव्यवस्था भी इतनी जटिल हो गयी है कि हमें साफ-साफ दिखाई नहीं देता कि हमारे पास जो आ रहा है वो किसी दूसरे का है। पुराने समय में बात सीधी होती थी। पुराने समय में दिख जाता था कि तुमने किसी की पोटली छीन ली, तो ये बात निर्विवाद होती थी कि तुमने किसी का हक मारा है।

आज मान लो तुम करते हो कोई नौकरी, मान लो सरकारी नौकरी, और तुम मुफ़्त की खा रहे हो, काम नहीं करते, तनख्वाह लिए जा रहे हो, तो तुम्हें ये साफ-साफ नहीं दिखाई पड़ता कि तुम्हारी रोटी में खून है। जब तुम किसी से रोटी छीनते हो तो तुम्हें दिखता है न कि देखो मैंने इस आदमी की रोटी छीन ली, तो साफ हो जाता है कि वो आदमी था मैंने उसका पैसा छीना, तो मैंने पाप किया। आज तुम बिना कुछ करे अगर तनख्वाह उठाते हो, तो तुम्हें उस टैक्सपेयर, उस करदाता का चेहरा पता थोड़े ही है जिसके दिए हुए टैक्स से तुम्हारी तनख्वाह आयी थी, पर उस करदाता का खून है तुम्हारी रोटी में, अगर तुमने बिना मेहनत करे तनख्वाह उठाई है।

आज पाप इसीलिए आसान हो गया है क्योंकि कुछ दिखाई नहीं देता। पहले तुम्हें किसी को मारना होता था तो बंदूक थी, तलवार थी, गर्दन कटती थी तो दिखाई देता था कि खून बहा। आज तो हत्या बटन दबाकर होती है न! अमेरिका में बैठकर बटन दबाओ, दस हज़ार किलोमीटर दूर बैठा कोई उड़ जाएगा। पता ही नहीं चलता कि हमने मार दिया, एहसास ही नहीं होता कि हमने पाप करा है।

पहले पशु का वध करते थे तो अपने सामने करते थे, दिखता था कि वो देखो अब उसकी आँखों से प्राण जा रहे हैं, तड़प रहा है, मर रहा है। अब तो डब्बा बंद मीट आता है, ऑनलाइन ऑर्डर करो, कंप्यूटर पर आर्डर करा और डब्बे में मीट घर पर आ जाएगा, तो पता ही नहीं चलेगा कि पाप हुआ। इसी तरीके से जब तुम तनख्वाह ले लेते हो और तुमने मेहनत नहीं करी होती है, तो तुम्हें पता नहीं चलता कि ये तुमने पाप करा है, ये तुमने किसी का हक मारा है। तुम्हारी रोटी में खून है!

भई, वो जो तुम्हारे घर में तनख्वाह आयी है, वो पैसा कहीं से तो आया होगा न? सरकार खुद तो पैसे बनाती नहीं। सरकार तो इतना ही करती है कि इधर का पैसा इधर; किसी से टैक्स लिया और उस टैक्स से किसी को तनख्वाह दे दी। सरकार तो यही करती है। तो तुम्हारे पास जो पैसा आया है तुम्हारे घर में, वो किसी के गाढ़े-खून पसीने की कमाई से आया है, जो तुम मुफ़्त घर ले गए। पाप तो लगेगा न! अंजाम तो भोगना पड़ेगा! और अंजाम भोगते ही हैं। ये जो बड़े प्रख्यात, भ्रष्ट अधिकारी होते हैं, ख्यातिमान, जिनका पता ही है सार्वजनिक तौर पर कि इनके हाथ में ज़बरदस्त खुजली है, इनके घर जाकर देखो, नब्बे-पिच्यान्वे प्रतिशत यही पाओगे कि घर तबाह है।

....

(लखनऊ, 2019)

छोटी बातों में उलझे रहोगे तो बड़ा काम कब करोगे?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आपके वीडियो में एक बात सुनी थी, वो बात मन में ठहर गयी। अब जो भी हरकत करता हूँ, जो भी गलती करता हूँ, तो उस वीडियो में सुनी उस बात को याद कर लेता हूँ, और उसी के संदर्भ में सीखने का प्रयास करता हूँ।

आपने कहा था कि एक लाख तेईस हज़ार चार सौ छप्पन (१,२३,४५६) में से 'एक (१)' को मिटाना, 'एक (१)' को हटाना ही असली कला है, साधना है। 'एक (१)' को हटा दिया तो सीधे घटकर तेईस हज़ार चार सौ छप्पन (२३,४५६) बच जाएगा।

मैं 'छह (६)' और 'पाँच (५)' को तो हटा देता हूँ, 'एक (१)' का मुझे दूर-दूर तक कोई पता ही नहीं है। इतनी सूक्ष्म दृष्टि ही नहीं है कि उस 'एक (१)' को देख पाऊँ; 'छह (६)' और 'पाँच (५)' में अदल-बदल करता रहता हूँ और थक जाता हूँ।

कृपया मार्गदर्शन करें।

आचार्य प्रशांत: १ वही है जो तुम्हारा ध्यान ५ और ६ पर केंद्रित रखता है। मिल गया १? मैंने कहा था कि तुम्हारी समस्याएँ १,२३,४५६ हैं। १,२३,४५६ तुम्हारी समस्याएँ हैं, तुम १ पर आक्रमण करो, ज़्यादातर मामला सुलझ जाएगा। फिर जब १ पर कर लो, तो २ पर करो।

हम उलटा करते हैं। हम उलझे रह जाते हैं – ५ और ६ के साथ।

५ और ६ में तुमने अगर फ़तह पा भी ली, तो किस काम की?

तो अब पूछा है इन्होंने कि, "मैं तो बड़ी कोशिश करता हूँ, लेकिन ५ और ६ में ही उलझा रह जाता हूँ, १ का मुझे कुछ पता ही नहीं लग रहा है।" मैंने कहा, "१ सामने ही तो है; १ वही है जो तुमको ५ और ६ में उलझाए रखता है।"

देखो कि क्या है जो तुम्हें ५ और ६ से आगे देखने हीं नहीं देता, उसी का नाम १ है। वो अपनी सुरक्षा के लिए तुम्हारे सामने झूठी चुनौतियाँ खड़ी कर देता है—जैसे कि सेना का अधिपति (जनरल), जो चक्रव्यूह जैसा कुछ निर्मित करें। चक्रव्यूह समझते हो? उसमें बहुत सारे चक्र होते हैं। करीब-करीब 'कंसेट्रिक सरकल्स' (एक हीं केंद्र वाला वृत्त) जैसे। और उस चक्रव्यूह के केंद्र में कौन बैठ जाता है खुद? जनरल। सबसे जो बाहर का चक्र है, जो सबसे बाहर का वृत्त है, घेरा है, उसमें वो किनको खड़ा कर देता है? जो बिल्कुल सबसे अदने स्तर के सिपाही हैं। ठीक है? छह घेरे हैं: १, २, ३, ४, ५, ६; छठा घेरा सबसे बड़ा है, और उसमें सबसे ज़्यादा हैं, क्योंकि सबसे बाहर का है इसीलिए सबसे बड़ा है वो घेरा, तो उसमें सबसे ज़्यादा वो सिपाही खड़ा कर देता है। सिपाही तो होते ही बहुत सारे हैं; जनरल एक होता है, सिपाही कितने होते हैं? बहुत सारे। तो वो छठे घेरे में बहुत सारे सिपाही खड़े कर देता है।

अब तुम जाते हो आक्रमण करने तो तुम किससे उलझ जाओगे? वही बाहर वाले व्यूह में ही उलझ जाओगे न। बाहर के व्यूहों में हीं उलझ जाओगे, और वहाँ अगर तुमने जीत भी लिया तो किसको जीता? वही अदने सिपाहियों को। उनको जीत कर भी तो हार है तुम्हारी। वहाँ जीत भी गये तो हार है न तुम्हारी, और क्या है?

और उससे अगर आगे बढ़ोगे तो पाँचवा घेरा है, और पाँचवे घेरे में कौन खड़े हैं? वो जो थोड़ा वरिष्ठ सिपाही हैं, वो भी हैं छठे नंबर जैसे ही। सबसे बाहर के घेरे में किनको खड़ा किया गया था? वो जो नए-नए रंगरूट हैं, एकदम ताज़े-ताज़े सिपाही आए हैं, जिनका अभी प्रशिक्षण भी पूरा नहीं हुआ है, उन सबको झुंड बनाकर – "चलो रे, खड़े हो जाओ!" पाँचवा घेरा भी सिपाहियों का है, वो थोड़ा प्रशिक्षित सिपाहियों का है। वहाँ भी तुम जीत गये तो क्या पाओगे? असली जनरल कहाँ खड़ा है? अंदर, भीतर; व्यूह के केंद्र में खड़ा है। लेकिन और कोई तरीका ही नहीं है! और कोई तरीका ही नहीं है क्योंकि उस व्यूह की रचना ही ऐसी हुई है कि तुम उलझोगे बाहर वाले से और भीतर वाला भीतर केंद्र पर सुरक्षित बैठा रहेगा।

ये सीमा, ये दिक्कत उनको आएगी जो इस व्यूह को व्यूह के तल पर ही रहते हुए तोड़ना चाहेंगे। नहीं समझे? व्यूह कहाँ पर बिछाया गया है? (अपनी मेज की तरफ़ इशारा करते हुए) मान लो ये मैदान है। इस मैदान पर व्यूह बिछा दिया गया है; छह घेरे हैं – १, २, ३, ४, ५, ६। इस मैदान में तुम किसी भी दिशा से आओ, वो पूरा एक वृत्त है। किसी भी दिशा से आओ, तुम्हें क्या मिलेगा? छठा और बाहरी घेरा ही मिलेगा। तुम घूमते रहो, दौड़ते रहो, खोजते रहो इस मैदान में कि कहाँ से अंदर घुस जाएँ, भेद जाएँ—भेद नहीं पाओगे! तुम जिधर को जाओगे, उधर तुम्हें बाहर छठा घेरा ही दिखाई देगा।

तो फिर तुम्हें क्या चाहिए? तुम्हें बेटा, वायु सेना चाहिए।

उस वायु सेना का नाम 'अध्यात्म' है।

वो कहता है, "अपना तल ऊपर उठा दो!" वो कहता है कि उस तल पर रहो ही मत, जिस तल पर ये समस्याएँ हैं। तल ऊपर उठा दो, ऊपर से जाओ सीधे नीचे, वो खड़ा हुआ है जनरल, मारो वहाँ से लेज़र गाइडेड मिसाइल , और बाकियों को छोड़ो! एक बार तुमने उस 'जनरल' को मार दिया तो जो बाकी खड़े हुए हैं, अर्दली, सैनिक और नीचे के लोग, ये खुद ही भग जाते हैं। वो खड़े ही इसीलिए है क्योंकि उनके केंद्र में उनको अनुशासित और प्रेरित और संगठित करने वाला 'जनरल' खड़ा है, 'सेनापति' खड़ा है। तुम सीधे ऊपर से जाओ और उस 'जनरल' को खत्म कर दो, उसकी सेना अपने आप ही भाग जाएगी।

और अगर तुम बहुत सूरमा बन रहे हो—कभी घोड़े पर, कभी टैंक पर, कभी किसी और चीज़ पर बैठकर, आ तुम ज़मीन से ही रहे हो ज़मीनी आक्रमण करने, तो भूलना नहीं कि थल के तल पर जिधर से भी आओगे, किसको पाओगे? छठे नंबर वालों को ही पाओगे। और छठे नंबर वालों को जीतने में कुछ रखा नहीं है।

भूलना नहीं, १,२३,४५६ में '६' का कुछ मूल्य नहीं होता। ये '६' जो है, ये बाहरी घेरा है। आम आदमी इसी में उलझ के पूरी जिंदगी खराब कर देता है। और उसमें बहुत सारे लोग हैं, सर्वाधिक लोग इसी में है, सर्वाधिक चुनौतियाँ इसी में हैं, उलझने के सर्वाधिक मौके उसी में हैं—हम उसी में उलझे रह जाते हैं। केंद्रीय समस्या पर हम कभी आक्रमण ही नहीं कर पाते; केंद्रीय समस्या छुपी रह जाती है, हमारे सामने झूठी और छोटी-छोटी समस्याएँ खड़ी करके। केंद्रीय समस्याओं को अगर बचे रहना है तो उसके बचने का सबसे अच्छा तरीका ये है कि आदमी को दूसरी और छोटी समस्याओं में उलझा दो, पूरी ज़िंदगी खराब कर देगा छोटी चीज़ में।

तुम ऊपर से आओ—इसी ऊपर उठने को, ऊर्ध्वगमन को 'अध्यात्म' कहते हैं। ऊपर से आओ!

बात आई समझ में कुछ?

ऊपर से आने का मतलब समझते हो क्या होता है?

प्र: अनासक्ति।

आचार्य: थोड़ा दूर हो जाओ न। छठे वाले से ही अगर उलझे रहोगे तो तुमको भीतर का कुछ दिखाई कैसे देगा? भीतर वाले को देख पाने की राह में कौन बाधा बनकर खड़ा है? ये सब बाहर वाले। बाहर का घेरा है, फिर घेरा है, फिर घेरा है, फिर घेरा है, और फिर भीतर वाला खड़ा है। भीतर वाला क्या दिखाई भी देगा अगर तुम बाहर खड़े हो बिल्कुल? इन छोटी-छोटी समस्याओं के कारण जो भीतरी, और केंद्रीय और मूल समस्या है, वो कभी दिखाई ही नहीं देती। तो

इसीलिए मैंने कहा कि अगर ५-६ में उलझे हुए हो तो १ वो है जो तुम्हें ५-६ में उलझाए हुए है। व्यूह रचना तो उस सेनापति ने ही करी है न? वही है जिसने तुम्हें ५ और ६ में उलझा दिया है। हमारी ज़िंदगी की सारी उलझनें बिना मूल्य की हैं, तुम इनसे न भी उलझो तो कुछ बिगड़ नहीं जाएगा। लेकिन इनमें उलझकर के तुमने अपना कितना बिगाड़ लिया!

हमारी ज़िंदगी की ज़्यादातर समस्याएँ, जिनको हम कहते हैं कि आजकल मेरी ज़िंदगी में ये मुद्दा है, ये बात है, ये समस्या है, बहुत मूल्य की नहीं हैं। अगर इनकी उपेक्षा भी कर दो तो बहुत नहीं खो दोगे, पर इनमें उलझकर के तुम्हें पता भी नहीं तुमने क्या खो दिया!

इन मुद्दों की अवहेलना करना सीखो।

भूलना नहीं मैंने क्या कहा था, "सबसे छोटा आदमी वो, जिसकी ज़िंदगी में सब छोटे-छोटे मुद्दे हावी हैं"। इन छोटों के कारण बड़े को कभी नहीं देख पाओगे, बड़े तक कभी पहुँच ही नहीं पाओगे।

उपेक्षा करना सीखो।

आज की दुनिया में इतनी ज़्यादा चीजें हैं और इतने मुद्दे हैं कि उपेक्षा बहुत-बहुत महत्वपूर्ण अनुशासन बन गया है अध्यात्म में। इतना कुछ है तुम्हें ललचाने को, अपनी ओर खींचने को, कि बिना उपेक्षा के तो तुम बच ही नहीं सकते।

....

(महाराष्ट्र, 2019)

उसके लिए प्राण भी जाए, तो कोई बात नहीं

कथा: पम्पा सरोवर में नहाते समय राम और लक्ष्मण ने सरोवर के तट की मिट्टी में धनुष गाड़ दिए। स्नान करके लक्ष्मण ने धनुष निकलते हुए देखा, धनुष में खून लगा हुआ था। राम ने देखकर कहा, "भाई, जान पड़ता है कि कोई जीव पर हिंसा हो गई है!" लक्ष्मण ने मिट्टी खोदकर देखा तो एक बड़ा मेंढक था, वह मरणासन्न हो गया था। राम ने करुणापूर्वक कहा, "तुमने आवाज़ क्यों नहीं दी? हम लोग तुम्हें बचा लेते। जब साँप पकड़ता है, तब तो खूब चिल्लाते हो।" तो मेंढक ने कहा, "राम, जब साँप पकड़ता है तब मैं चिल्लाता हूँ – 'राम, रक्षा करो! राम, रक्षा करो!' पर अब देखता हूँ राम स्वयं मुझे मार रहे हैं, इसलिए मुझे चुपचाप रह जाना पड़ा।"

आचार्य प्रशांत: दो तरह के दुःख होते हैं; एक जो संसार देता है, एक जो सत्य देता है। जब संसार दुःख दे तो बलपूर्वक विरोध करो, बुलाओ सत्य को, "आओ, रक्षा करो," "आओ, रक्षा करो"। लेकिन जब सत्य ही दुःख दे, तो चुप रह जाओ बिल्कुल। और सत्य खूब दुःख देता है। राम की तरफ चलोगे, राम खूब दुःख देंगे। जब दुःख राम से मिल रहा हो, तो शोर नहीं मचाना चाहिए। जब दुःख संसार से मिल रहा हो, तो प्रतिकार करना चाहिए। और जब दुःख सीधे-सीधे सच से ही मिल रहा हो, राम से ही मिल रहा हो, तो शिरोधार्य है। तब कहो, "ठीक है। आपने दिया है तो ठीक होगा। दुनिया देती तो हम बर्दाश्त नहीं करते, पर आप दुःख दे रहे हैं तो बिल्कुल ठीक होगा।"

और मेंढक को तो छोटा-मोटा दुःख नहीं मिला है, वो तो मरने ही वाला है अब, धनुष ही गाड़ दिया उसके सर पर; पर वो कह रहा है, "आपका धनुष है न! आपके हाथों मृत्यु अगर मिल रही है तो ठीक ही होगा।"

ये बात समझ में आ रही है।

अध्यात्म दुःख से मुक्ति का विज्ञान है, लेकिन अध्यात्म खुद बहुत दुःख देता है, इसीलिए तो लोग अध्यात्म से पीछा छुड़ाकर भागते हैं। अध्यात्म है तो इसलिए कि जीव जिन दुःखों में लिपटा पड़ा रहता है और त्रस्त रहता है, उनसे मुक्त हो जाए—है तो अध्यात्म इसलिए, पर किसी भी आध्यात्मिक साधक से पूछो, किसी भी ऐसे व्यक्ति से पूछो जिसने कहा हो कि सच्ची ज़िन्दगी जीनी है, वो आपको बताएगा कि सच्ची ज़िन्दगी जीने में बहुत दुःख मिलता है।

जब सच्ची जिंदगी जीने में दुःख मिले तो वो दुःख शुभ है।

वो दुःख शुभ है, उसका वरण करो, उसके सामने झुक जाओ, कहो, "ठीक!"

इसी बात को मैं कहा करता हूँ कि:

जीवन दुःख तो है ही, तुम सही दुःख का चयन करो। एक दुःख वो है जो संसार देता है, और दूसरा दुःख वो है जो सच

देता है; दुःख तो दोनों ही तरफ है। तुम वो दुःख चुनो जो तुम्हें मुक्ति दिला देगा। संसार जो दुःख देता है, तुम उसको चुनोगे, तो वो दुःख क्रमशः बढ़ता ही जाएगा, और वो तुम्हें अपनी गिरफ्त में और लेता जाएगा। सच्चाई तुम्हें जो दुःख देती है, उसको चुनोगे, तो धीरे-धीरे दुःख कम होता जाएगा, दुःख से मुक्त होते जाओगे।

तो कोई ये शिकायत करने न आए कि हम जब दुनियादारी में थे तो दुःख पाते थे, तो साहब हम चले अध्यात्म की ओर, लेकिन जब से अध्यात्म में आए हैं, हालत और खराब हो गई है, दुःख और बढ़ गया है! जो कोई कहे, "हालत खराब हो गई है," "दुःख बढ़ गया है," मैं कहूँगा कि ज़्यादा लग रहा हो तो उधर ही लौट जाओ जहाँ से आए हो! तुम्हें ये वादा किया किसने था कि अध्यात्म में दुःख नहीं मिलेगा? अध्यात्म में दुःख मिलता है। कई बार संसार में जो दुःख मिल रहा होता है, उससे ज़्यादा दुःख मिलता है अध्यात्म में। मुक्ति के आकांक्षी हो तो झेलो, और नहीं झेला जा रहा हो, तो जाओ!

तो इस तरह की बेहूदी बातें अक्सर करी जाती हैं कि, "देखो, वो जो दुनिया वाले लोग हैं, वो हमसे तो कम दुःख झेल रहे हैं न! हमें अध्यात्म में आकर क्या मिला?" ऐसों के लिए एक ही जवाब है, क्या? जाओ! वही दिशा तुमको बहुत अच्छी लग रही है, जाओ!

अध्यात्म उनके लिए है जो सच की राह पर मिलने वाले दुःख को प्रसाद समझकर ग्रहण करें, चूँ भी न करें। मुस्कुराएँ, जैसे मेंढक! बोला ही नहीं कुछ, मौत आ रही है, चुप रहा! कह रहा है, "ये मौत कौन दे रहा है? राम दे रहे हैं न? ठीक है। ये जो पूरा दुःख है, कौन दे रहा है? राम दे रहे हैं न। हाँ, साँप ने मुझे ये दुःख दिया होता तो मैं बहुत चिल्लाता। साँप कौन होता है मुझे दुःख देने वाला? पर राम अगर दुःख देंगे तो बिल्कुल नहीं चिल्लाऊँगा।"

इन उम्मीदों के साथ अध्यात्म की ओर मत आइएगा कि जल्दी से ही आनंद-उपवन में भ्रमण करने लगेंगे। लोगों के ख्याल कुछ ऐसे ही होते हैं, कि हमारे चेहरे पर एक दैवीय मुस्कान होगी, आँखों में नूर होगा, आभामंडल होगा पीछे, प्रकाश उत्कीर्ण हो रहा होगा; हम ज़मीन पर नहीं, ज़मीन से छह इंच ऊपर चल रहे होंगे, और जिधर जा रहे होंगे, उधर सब बोलेंगे, "वाह! हरि बोल!" ऐसी उम्मीदें लेकर लोग आते हैं, फिर जब वो उम्मीदें पूरी नहीं होतीं, जो हो ही नहीं सकतीं, तो उनको बड़ा झटका लगता है। वो कहते हैं, "यार, इससे भले तो पहले थे, ठीक-ठाक काम-धंधा चल ही रहा था, ये कहाँ की बला पाल ली!"

प्रश्नकर्ता १: आपने जो कहानी पढ़ी, उसमें राम खुद कह रहे हैं कि तुमने आवाज़ क्यों नहीं दी, हम तुम्हें बचा सकते थे।

आचार्य: वो राम 'अवतार' हैं, करुणा से भरे हुए। अवतार रूप में राम बहुत सारी ऐसी बातें करेंगे जो बिल्कुल मानवीय होंगी। अवतार रूप में तो राम भरत के वियोग में भी रोते हैं, सीता के वियोग में भी रोते हैं, लक्ष्मण को बाण

लग जाता है, तो भी, "लक्ष्मण! लक्ष्मण!" खूब रोते हैं। तो मेंढक को चोट लग गई है, तो भी उन्हें दुःख हो रहा है।

मैं किस 'राम' की बात कर रहा हूँ? मैं 'अवतार' राम की बात नहीं कर रहा हूँ; मैं 'सत्य' राम की बात कर रहा हूँ। अवतार राम का तो काम है आपके दुःख को अनुभव करना और आपके दुःख में दुःखी भी हो जाना। जटायु को देखते हैं कि बहुत चोट लग गई है, राम के दुःख का पारावार नहीं है। अवतार रूप में तो अगर वो आपके दुःख के प्रति संवेदना न रखें तो आपके काम ही नहीं आएँगे।

प्रश्न ये नहीं है कि राम क्या कह रहे हैं, प्रश्न ये है कि मेंढक का क्या कर्तव्य है। मेंढक का कर्तव्य है कि अगर चोट राम ने दी है तो चूँ नहीं करूँगा। राम अपना धर्म निभा रहे हैं, मेंढक अपना धर्म निभा रहा है। राम का धर्म है कहना कि, "अरे, आवाज़ दे देते तो मैं तुम्हें बचा लेता" और मेंढक कह रहा है, "आवाज़ दूँ क्यों?" राम का धर्म है मेंढक से कहना कि तुम बोलते तो तुम्हें बचा लेता, और मेंढक का धर्म है कहना कि आप अगर मौत भी देंगे, तो भी स्वीकार है।

प्र२: मैं फर्क नहीं देख पा रहा हूँ कि सांसारिक दुःख किसको समझें और आध्यात्मिक दुःख किसको समझें। कृपया बताएँ।

आचार्य: सांसारिक दुःख है संसार को पकड़ के रखने में। संसार को पकड़ के रखना दुःख की बात होती है न? और आध्यात्मिक दुःख है वो सब छोड़ने का दुःख, जो मूल्यहीन है, पर जिससे हमें मोह है। जो मूल्यहीन है, उसको पकड़कर रखने में दुःख है न? पर जो मूल्यहीन है, पर मोहवश पकड़ा हुआ है, उसे छोड़ने में भी बड़ा दुःख है। अंतर समझ गए, सांसारिक-आध्यात्मिक दुःख का?

मूर्खता में दुःख है, पर मूर्खता में मज़े भी तो हैं। तो एक दुःख है मूर्खता करने का, और एक दुःख है जो होता है मूर्खता छोड़ने में; मूर्खता छोड़ने में जो दुःख होता है, वो आध्यात्मिक दुःख है। कई बार मूर्खता करने में जो दुःख होता है उससे ज़्यादा दुःख हो जाता है मूर्खता छोड़ने में। हो जाता है न? खासतौर पर अगर मूर्खता थोड़ी रंगीन हो। फिर पता होता है कि ये जो कर रहे हैं, ये चीज़ बेवकूफी की है, अंदर-ही-अंदर दुःख लगता है कि बेवकूफी क्यों कर रहे हैं, पर उसे छोड़ने की तो बात भी न करें भाई साहब! उसे छोड़ने में महा दुःख है! छोड़ कैसे दूँ?

आध्यात्मिक दुःख आपको कितना ज़्यादा अनुभव होगा, वो इसपर निर्भर करता है कि आपमें मोह कितना है। और सांसारिक दुःख आपको कितना अनुभव होगा, वो इसपर निर्भर करता है कि आपमें विवेक कितना है। विवेक आपमें खूब है, और फिर भी आप संसार से लिप्त हैं, तो आपको बड़ा दुःख होगा। और मोह बहुत है आपमें, फिर भी आप संसार की मूर्खता छोड़ने की कोशिश कर रहे हैं, तो बहुत दुःख होगा। मोह बड़ी चीज़ है!

....

(मुंबई, 2019)

क्रांति है अपना साक्षात्कार, महाक्रांति अपना सहज स्वीकार

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, अभी दिमाग में ये चल रहा था कि ये बोलूँगी, ये बोलूँगी, ये बोलूँगी और फिर क्या हो जाता है पता नहीं, कुछ कह नहीं पाती। बस लगता है कि दबा लो, अन्दर रख लो।

आचार्य प्रशांत: देखो, तुम्हारे भीतर जो भी है, उसके साथ आत्मा भी तो है न? वो कोई बाहर से तो देता नहीं किसी को; वही वही है। आप जितनी भी चालाकियाँ कर लें, आपको (जो आप वास्तव में हैं), उसे ही आत्मा कहते हैं। 'आत्म' माने 'मैं'।

आपको पता होता है कि आप क्या कर रहे हैं। आपको पता होता है कि आपके सारे सवाल फ़िज़ूल हैं। भले ही आप बहुत ज़ोर से चिल्ला रहे हों कि मेरे पास ये शक़ है, ये संदेह है, पर आपको पता तो होता ही है कि फ़िज़ूल है। हर सवाल मूलतः झूठ है, ये आप जानते हैं। सच्चा कोई सवाल नहीं होता। हर सवाल में अगर गौर से देखा जाएगा तो कहाँ पर झूठ बैठा है, ये आपको दिख जाएगा।

मूल झूठ तो हर सवाल का यही होता है कि "मैं जानता नहीं"। आप सवाल पूछोगे क्यों अगर आप कहोगे कि "मैं जानता हूँ"? सवाल के पीछे ये भावना तो होती ही है न कि "मैं नहीं जानता हूँ"। मूल झूठ तो ये है ही, और, और भी छोटे-मोटे झूठ हैं। तो इसीलिए तुम वो सवाल लेकर के एक सात्विक वातावरण में नहीं जा पाते हो। ठीक वैसे जैसे किसी मौन जगह पर शोर मचाना तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा, या किसी मंदिर में गंदे होकर जाना तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा। ठीक उसी तरीके से सत्य के सामने अपने झूठ लेकर के जाना तुम्हें अच्छा नहीं लगता है। तुम्हारा खुद ही मन

नहीं करता कि इन बातों को फिर यहाँ रखो। कोई तुक नहीं बनता है।

क्या पूछें? ये कोई बातें हैं पूछने की? ये कोई पूछने की बात है? तुम्हारे सारे सवाल ऐसे हैं जैसे किसी की पीठ में खुजली हो रही हो। अब माहौल है ऊँचे-से-ऊँचे सत्य का, परम का, और वहाँ तुम सवाल क्या पूछो?

प्र: खुजली हो रही है।

आचार्य: कि पीठ खुजलाती है महाराज, क्या करें? ये कोई बात है पूछने की? और आज तक जिसने भी, जो भी सवाल पूछा है, उस सवाल की हैसियत यही है। क्या? कि पीठ खुजलाती है तो ज़रा समाधान बताइए। तुम्हारे सामने तो अगर परमात्मा भी पड़ जाए तो सवाल तो यही रहेगा कि मरहम मिलेगा क्या ज़रा, पीठ में खुजली होती है।

अब ये भी कोई पूछने वाली बात है? तो इसीलिए नहीं पूछ पाते हो क्योंकि पता है तुम्हें कि कुछ पूछने वाली बात ही नहीं है, इसमें क्या पूछें? हाँ, खुजली बहुत ही ज़्यादा हो रही हो तो मजबूर हो तो फिर पूछोगे ही, तो फिर पूछ लो। करोगे क्या तुम? परमात्मा, परमात्मा है; तुम तो तुम ही हो। तुम्हारी पीठ खुजलाती है, परमात्मा से भी वरदान माँगोगे तो क्या माँगोगे? कहोगे कि हम ज़रा झुके जाते हैं, पीठ खुजला दो। परमात्मा से भी हम माँगते हैं तो क्या माँगते हैं? यही तो माँगते हैं कि पीठ खुजला दो।

भाई, लोग मंदिर जाते हैं तो कैसी चीज़ें माँगते हैं? कुछ पैसे मिल जाएँ, लड़की मिल जाए, ये सब क्या चीज़ें है? यही तो हैं कि पीठ खुजला दो। लेकिन ज़रा अगर ध्यान गहरा बैठता है तो फिर ये बातें पूछते लाज आती है, शर्म आती है। मन से उतर ही जाती हैं। मन ही नहीं करता इन्हें पूछने का। बाद में हो सकता है फिर से वही सवाल बड़ा बन जाए।

प्र: सर, लेकिन आपके सामने रख दी जाती है वो खुजली, तो एक लम्बे समय के लिए शांत हो ही जाती है।

आचार्य: शांत नहीं होती है। जिन लोगों को खुजलियाँ होती हैं, ज़रा उन लोगों से पूछो। उनके कभी यहाँ होगी, कभी यहाँ होगी, कभी यहाँ होगी। वो वापस आएगी। वो दूसरे रूप में आएगी वापस। कभी पेट का दर्द देखा है? वो पता ही नहीं चलता कि उठ कहाँ रहा है; कभी यहाँ उठता है, कभी यहाँ। जो खासतौर पर गैस की मरोड़ होती है, वो गैस इधर-उधर भागती रहती है, कभी यहाँ पर आती है, कभी यहाँ दर्द करती है।

तो वो ऐसे ही होता है। तुम एक सवाल पूछोगे, मैं उसपर कुछ बोल दूँगा, पर सवाल पूछने वाली वृत्ति थोड़े ही ख़त्म हो गयी है। एक विचार था सवाल के रूप में, उस विचार के बारे में कुछ बातें कह दी गयीं हैं। पर जो मूल वृत्ति है, वो सवाल पूछने से नहीं शांत हो जाएगी; वो तो शांत होने से ही शांत होगी। तुम्हारा सवाल कहीं चला नहीं जाएगा, वो बस दूसरा सवाल बन जाएगा। कहीं चला नहीं गया है।

सवाल क्या है? सवाल मूलतः तुम्हारी बेचैनी है। जो कभी एक रूप लेती है, कभी दूसरा रूप ले लेगी। आज तुम एक चीज़ के लिए भाग रहे हो, कल दूसरी चीज़ के लिए भागोगे। तुम्हारी एक दौड़ ख़त्म हो गयी, इसका अर्थ ये नहीं है कि तुमने दौड़ना बंद कर दिया है। इसका क्या अर्थ है?

प्र: कोई दूसरी दौड़ शुरू कर दी है।

आचार्य: तो कोई इस बात को न कहे कि पहले मैं दौड़ता बहुत था, अब मैं दौड़ता नहीं हूँ। इतना ही पता चलता है कि तुम कहीं और दौड़ रहे होगे।

प्र: सर, एक सत्र में आपने कहा था कि सवाल नहीं पूछने का मतलब ये नहीं कहा जा रहा है कि सवालों को दबा दो, क्योंकि सवालों को जब तुम दबा दोगे तो वो बाद में चलकर और कुंठित हो जाएँगे, फिर वो तुम्हारी विकृतियाँ बन जाएँगे। इसपर बता दीजिए ज़रा-सा।

आचार्य: आज दोनों बातें हुई हैं न। आज जब वीडियो चल रहा था तो उसमें कहा गया कि सवाल पूछना मूर्खता है। उसके बाद मैंने कहा कि सवाल दबाना मूर्खता है। दोनों हीं मूर्खताएँ हैं। एक है कि सवालों को बहुत ज़ोर-ज़ोर से पूछ रहे हैं, और एक है कि सवालों को बहुत ज़ोर-ज़ोर से दबा रहे हैं। दोनों ही स्थितियों में महत्व किसको दिया?

प्र: सवालों को।

आचार्य: बात आ रही है समझ में? एक आदमी है जो सवाल पर ही जीता है, खाता है, पीता है। "भाई, मेरा सवाल है! मुझे तो जवाब चाहिए ही चाहिए।" और एक आदमी होता है जो सवाल को दबाने की कोशिश में लगा हुआ है। सवाल अर्थात वो स्थिति जिससे सवाल पैदा हो। वो जीवन में प्रश्नों को उठने ही नहीं देता। वो डरता है प्रश्नों से। तुम जिसका समर्थन करो, वो तुम्हारे लिए महत्वपूर्ण, और तुम जिसके विरोध में खड़े हो, वो भी तो तुम्हारे लिए महत्वपूर्ण। जो सवाल ज़ोर-ज़ोर से पूछ रहा है, वो सवालों के समर्थन में खड़ा है। जो सवालों को उठने ही नहीं दे रहा—सवाल के उठने का अर्थ होता है - डिज़ोनेंस (मतभेद) को देखना।

यही तो ईमानदारी की बात होती है न कि मैं जो अपने-आपको समझता हूँ, और जो मैं कर रहा हूँ, वो अलग-अलग हैं। यही तो सवाल है। इसी से तो सवाल उठेगा। सवाल का उठना इस अर्थ में शुभ होता है कि आपको एक शिज़्म (मतभेद) दिखाई देता है, आपको एक बटवारा, एक सेपरेशन (विभाजन), एक खाई दिखाई देती है। आपको एक विभाजन दिखाई देता है।

जब वो डिज़ोनेंस आप देखने से ही इनकार रहे हो—हम जिस ईमानदारी की बात कर रहे थे, वो क्या थी? उस ईमानदारी का मतलब था कि 'मेरे होने' और 'मेरी छवि' के बीच में डिज़ोनेंस (मतभेद) है। जो चल रहा है, और जो मैं अपने-आपको प्रोजेक्ट करता हूँ (दर्शाता हूँ), उन दोनों में अंतर है। इसको दबा दिया तो भी तुमने किसको बचाया? तुम ध्यान से देखो तुमने किसको बचाया? छवि को बचाया न?

और सवाल खूब पूछ रहे हो, तो भी वो सवाल निकल तुम्हारी छवि से ही रहे हैं। और उनके ऐसे उत्तरों को तुम बर्दाश्त करते नहीं जो छवि तोड़ दें। तुम अगर ये कहती भी हो न कि अगर हम आपसे कुछ पूछते हैं तो उसको सुनकर शान्ति हो जाती है, वो शान्ति इसलिए नहीं हो जाती है, इस भ्रम में मत रहना, कि तुम्हारा सवाल कीमती था या कि उस सवाल से सम्बंधित तुम्हें कोई उत्तर मिला। अगर तुम्हें कभी शान्ति मिलती भी है तो इसलिए नहीं कि उत्तर तुम्हारे सवाल से सम्बंधित होता है। तुम्हें शान्ति इसलिए मिलती है क्योंकि उत्तर व्यापक होता है, जनरल (सबके लिए) होता है। अगर तुम जो पूछती हो, मैं उसी का जवाब देने लग जाऊँ तो शांति-वांति कुछ नहीं। नहीं समझ में आ रही बात?

प्र: सर, नहीं समझ आ रही बात।

आचार्य: तुम तो पूछने आती हो, "आलू कितने रुपए किलो?" इससे ज़्यादा तुमने पूछा नहीं कुछ। अब मैं इसका ही जवाब देने लग जाऊँ, तब तो मिल चुकी शान्ति! तुम्हें शान्ति मिलती है तो इसलिए मिलती है क्योंकि मैं तुम्हारे सवाल की उपेक्षा करता हूँ। मैं बहुत गंभीरता से लेता ही नहीं कि तुम पूछ क्या रही हो। मुझे वो बोलना होता है जो मुझे बोलना है। नहीं तो तुम तो यही पूछोगी कि, "पीले मटर किधर हैं और नीले मटर किधर हैं?" इन सवालों में क्या मिलना है किसी को? आ रही है बात समझ में?

क्या समझ में आ रहा है?

जो है, उसे ध्यान से देखो, और उसको स्वीकार करो ताकि डिज़ोनेंस (मतभेद) न रहे। और जो दिखाई दे, उस बारे में बहुत हाय-तौबा मत मचाओ कि, "हाय! दुनिया ऐसी क्यों है? मैं ऐसा क्यों हूँ?" हो! बस बात ख़त्म। चें-चें की ज़रूरत नहीं है।

हम दोनों ही काम नहीं करते हैं। पहला, हम ईमानदारी से देखते नहीं कि हम हैं कौन। दूसरा, कोई ज़बरदस्ती पकड़ के दिखा भी दे तो हम क्या शुरू कर देते हैं? हाय तौबा! कि मेरी तो ज़िन्दगी ही खराब है।

न इस सिरे पर जाना है, न उस सिरे पर जाना है। न तो सवाल से डर के सवाल को दबाना है, और न ही सवाल को

बहुत महत्व दे देना है। बेख़ौफ़ होकर देखना है कि माजरा चल क्या रहा है। और जो चल रहा है, उस बारे में कूल (उदासीन) रहना है।

"हाँ, है! यही तो है! तो मैं क्या करूँ?"

"हाँ, है! ऐसे ही है! तो क्या करूँ?"

नहीं समझ में आ रही बात?

प्र: ये वाली फ़ीलिंग (भावना) तो बहुत बार आती है कि, "नाओ टेल मी व्हाट टू डू (अब बताओ कि आगे क्या करना है)?"

आचार्य: नहीं, ये नहीं है कि, "नाओ टेल मी व्हाट टू डू (अब बताओ कि आगे क्या करना है)?" नथिंग टू डू (कुछ नहीं है करने के लिए)! टेल मी व्हाट टू डू कहने से पता चलता है कि अभी कुछ है करने के लिए।

यही है; तथाता!

प्र: जो है, उसके साथ कूल (उदासीन) नहीं हैं अगर तो?

आचार्य: हाँ, तो ये छवि आ गयी न तुम्हारी। यही तो डीज़ोनेंस है कि जो है, और जो तुम अपने-आपको देखना चाहते हो, उसमें गैप (अंतर) है। कूल इसीलिए नहीं हो तुम क्योंकि तुम्हें कुछ और हो जाना है; बिकमिंग है (कुछ बनने की चाह है)।

कूल रहो। तुम ऐसे ही हो; फुद्धूद, सुद्धूध। कूल!

जब आप स्वीकार नहीं करते हो कि क्या चल रहा है, तो आप पाखंडी हो जाते हो। और जब आप ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते हो कि जो चल रहा है वो मुझे पसंद नहीं है, वो मुझे बदलना है, तब आप नास्तिक हो जाते हो।

पाखंडी कौन है? वो नास्तिक जो झूठा आस्तिक होने की कोशिश कर रहा है ।

उदाहरण के लिए, तुम्हें पता है कि तुम्हारा सत्य में और ब्रह्म में कोई यकीन नहीं है, पर तुम्हें बचपन से ये बताया गया है कि ईश्वर बड़ी बात है, तो तुम अपनी छवि ये रखना चाहते हो कि "हूँ तो मैं आस्तिक"। हो तुम गहराई से नास्तिक

ही, ये तुम अच्छे से जानते हो। ठीक है न? पर तुम इस बात को एकनोलेज (मानोगे) नहीं करोगे कि, "मैं किसी ईश्वर-वीश्वर को मानता-वानता नहीं हूँ"। ये पाखंड है।

और तुम ये मान जाओ कि "हाँ, मैं मानता नहीं हूँ" और फिर खूब चिल्लाओ कि "हाय! मेरे साथ ऐसा क्यों है?" "हाय! मेरे साथ वैसा क्यों है?" तो ये गहरी नास्तिकता है।

कैसे?

प्र: खुद को बदलना है।

आचार्य: कि मुझे पसंद ही नहीं है कि एसा क्यों है, मुझे बदलना है!

जानो कि क्या है, और जो है, उसके साथ शान्ति से जिओ।

पहले तो जानो कि तुम क्या हो। और वो गन्दा लगेगा, उसमें से बदबू उठेगी। कोई बात नहीं। ठीक है। अब सूअर को क्या हक़ है ये शिकायत करने का कि चारों तरफ बदबू उठती है? उसने अर्जी दी थी क्या कि नाली में पैदा होना है? है; ऐसे ही है। यही जन्म मिला है। कुछ हुआ होगा पहले ऐसा भाई, ऐसे ही पैदा हुए हैं। हमारे पोर-पोर से झूठ और वासना उठती है; दुर्गन्ध है। क्या करें? है, ऐसे ही है।

और फिर ये छवि मत बनाओ कि जिनके ऐसे होता है वो पतित, व्यवचारी, राक्षस होते हैं।

ऐसा ही है।

जब जो होता है उससे तुम राज़ी हो जाते हो, तो तुम्हें फिर वो मिल जाता है जो तुम्हारे राज़ी होने से आगे की बात है। परमात्मा कहता है कि जब तुझे वो ही पसंद नहीं जो मैंने तुझे दिया, तो तुझे देने वाला कैसे पसंद आएगा? जो भी उसने तुम्हें दिया है, भले ही उसने तुम्हें बदबू दी है, तुम ज़रा पहले उसका सहज स्वीकार करो। फिर जिसने दिया है, वो भी तुम्हें मिल जाएगा। मैं तुम्हें कोई उपहार दूँ, तुम्हें वही पसंद नहीं आ रहा, तो तुम्हें देने वाला कैसे पसंद आएगा? तुम जो भी हो, जैसे भी हो, तुम्हें वही मिला है। उसके साथ समझौता रखो, शान्ति रखो; स्वीकार रखो। वही मिला है तुम्हें।

प्र: सर, अगर हमने किसी चीज़ को देखा है और उसे पहले ही कह दिया कि वो गन्दगी है, तो फिर हम उसे

स्वीकारेंगे क्यों?

आचार्य: तुम्हारे पास चारा नहीं है क्योंकि जो है, उसका नाम तो वैसे कोई होता नहीं। नाम तो सारे तुम्हारे दिए हुए हैं; चाहे गन्दा बोलो चाहे साफ़ बोलो। तो जब भी तुम्हारे सामने तुम्हारा रूप आएगा, तो उसे कोई-न-कोई नाम तो दे ही दोगे। और संभावना यही है कि जो तुम नाम दोगे, वो नैतिकता के निचले तल का ही होगा, क्योंकि नैतिकता तो बनाई ही ऐसी जाती है कि उसमें ऊँची बातें वो रखो जो अप्राप्य हैं, जो मिल ही नहीं सकतीं। तो नैतिकता की नज़र से जब भी अपने-आपको देखोगे तो गन्दगी ही पाओगे, कोई विकल्प नहीं है तुम्हारे पास। और हमारे पास नज़र एक ही है। कौन-सी? नैतिकता की। तो जब भी अपने-आपको देखोगे, तो तुम्हारी विवशता ही यही रहेगी कि तुम्हें अपने-आपको कोई बदबू भरा ही नाम देना पड़ेगा। बदबू भरे हो नहीं। नाम!

इसमें भी तुम्हारी कोई भूल नहीं, तुम्हें व्याकरण ही ऐसा पढ़ाया गया है जिसमें तुम्हें सिर्फ गंदे नाम ही मिल सकते हैं। तुमने क्या किया? तुम भी बाहर से आए हो और तुम्हारा व्याकरण-शास्त्र भी बाहर से आया है। अब उस व्याकरण के मुताबिक़ अगर तुम्हारा एक ही नाम हो सकता है—गंधाता, तो तुम ये रख लो ये नाम। ठीक, हम कौन? गंधाता। यही नाम है मेरा। और ये नाम मैं नही दे रहा हूँ, ये नाम मुझे संसार के व्याकरण ने दिया है। दिया है, ठीक। इस बात का जब सीधा स्वीकार कर लेते हो, तो इससे आगे चले जाते हो। इसको मानोगे नहीं, इसको रेसिस्ट (विरोध) करोगे, या तड़पोगे कि "ऐसी मेरी हालत क्यों है! ऐसी मेरी हालत क्यों है! मुझे बचाओ! मुझे छुड़ाओ!” तो इसी में फसे रह जाओगे।

इसी को कहा गया है: *न दैन्यं, न पलायनम*। न तो अपने-आपको दीन मानो और न ही अपनी वर्तमान अवस्था के प्रति इतना विरोध रखो कि "मुझे इससे मुक्त होना है,” "मुझे इससे मुक्त होना है"।

जानो, कि क्या है, बस।

और तुम्हारे मुँह से जब भी ये बात निकले कि अभी तुम्हारी हालत क्या है, तो बड़े सहज-भाव से निकले, कातर (व्याकुल) भाव से नहीं। कि अभी तुम्हारी हालत क्या है? "अभी मेरी हालत ये है कि मैं बिक रहा हूँ बाज़ार में। अभी मेरी हालत ये है कि मैं एक बिका हुआ जीव हूँ।" इस बात को ऐसे नहीं बोलो कि तुमने कितना जघन्य अपराध कर दिया है। इसको ऐसे बोलो कि "अभी तो मेरी हालत ऐसी है कि मैं बिका हुआ हूँ"। इसको ऐसे ही बोलो जैसे कोई बोलता है न कि "अभी मेरी हालत ये है कि मैं खिचड़ी खा रहा हूँ,” "अभी मेरी हालत ये है कि मैं साँस ले रहा हूँ," "मैं किताब पढ़ रहा हूँ”। ऐसे ही बोलो कि "अभी तो मेरी हालत ये है कि मैं रोज़ बिक रहा हूँ"।

दो बातें है। एक तो साफ-साफ देख पा रहा है कि वो बिका हुआ है, और दूसरा कि इस बिकने के प्रति उसमें कोई विरोध नहीं है, कोई आग्रह नहीं है, कि "परमात्मा, तैने मोहे काहे बेचा?” जो भी है, सो है अब। हम कौन हैं? हम

बिके हुए हैं।

प्र: हमें कुछ नहीं पता क्या हो रहा है।

आचार्य: मुझे कुछ पता नहीं है कि क्या हो रहा है, और कुछ पता नहीं क्या हो रहा है, तो कोई बड़ी बात नहीं हो गयी। नहीं पता कि क्या हो रहा है!

क्रांतियाँ ऐसे नहीं होती हैं कि तुम बड़ा विरोध दर्शाओ, कि जो हालात हैं, तुम उनपर बड़ा विरोध दर्शाओ तो क्रान्ति हो जाएगी। क्रांतियाँ ऐसे नहीं होती हैं। मेरे पास लोगों के मेल आते हैं या लोग बात करने आते हैं, उनमें से जिनकी भी बातें गहरे विरोध से भरी होती हैं, मैं समझ जाता हूँ कि यहाँ कुछ बदलेगा नहीं। जहाँ कहीं भी ये लगता है कि ख़त (मेल) खून और आँसुओं से लिखा गया है, मैं समझ जाता हूँ कि यहाँ कुछ नहीं बदलेगा। क्योंकि बड़ा गहरा विरोध है।

स्थिति के प्रति गहरा विरोध यही बताता है कि तुमने स्थिति को गहरा महत्त्व दे दिया।

महत्व सिर्फ़ सत्य को दिया जा सकता है, स्थिति को नहीं।

ये बात सुनने में अजीब लग रही है, है न? हमें सुनने में ये लगता है कि जिसके मन में जितना गहरा विरोध, उसके जीवन में उतनी ही गहरी क्रांति आ जाएगी। ऐसे ही लगता है न कि जो जितनी ज़ोर से नारे लगाएगा, कि "मुर्दाबाद-मुर्दाबाद," वही होगा जो तख्ता पलटेगा? ऐसा नहीं होता। जहाँ ज़ोर से नारे लग रहे हैं, वहाँ बस नारे ही लगेंगे। जहाँ कोई ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला के कह रहा है न कि, "मैं बड़ी घुटन में हूँ। मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मेरी मदद कीजिए।" उसको मदद नहीं चाहिए। उसने अपनी सारी ऊर्जा वो पत्र लिखने में ही लगा दी है।

जब आपको स्थिति का सहज आभास होता है, तब होती है क्रांति।

रोना, चीखना, चिल्लाना, ये तो एडजस्टमेंट के तरीके हैं, समायोजन के। कोई मर जाता है, आप छाती पीटते हो। ये क्या है? ये एक एडजस्टमेंट मेथड (समायोजन विधि) है। यू आर ट्राइंग टू कोप विद द सिचुएशन (आप स्थिति से निपटने की कोशिश कर रहे हो)। बात को समझो ध्यान से। इसीलिए जो छाती नहीं पीटता, लोग चाहते हैं कि वो छाती पीटे और रोए। ये एडजस्टमेंट मेथड्स हैं। यहाँ अब कोई क्रान्ति नहीं होगी। आपका मुर्दे को दोबारा प्राण देने का कोई इरादा नहीं है, या है? आप कह रहे हो कि जो होना था, वो तो हो गया। ये तो है। अब हम ज़रा समायोजित हो लें। हम ज़रा कोप कर लें; एडजस्ट हो लें। तो आप रोते हो।

ध्यान से देखो क्या हो रहा है। जिसे मरना था वो मार गया। क्या किसी का भी ये इरादा है कि इसे दोबारा प्राण दें? है इरादा? आप कहते हो कि मर तो गया ही है, अब हम ज़रा एडजस्ट हो लें। तो रोना वो एडजस्टमेंट है।

जब भी कोई ज़ोर से रो रहा हो, घर से ज़ोर-ज़ोर से विलाप की आवाज़ आ रही हो, साफ समझ लो कि मुर्दा अब जीएगा नहीं। सब ने मान लिया है कि मौत आख़िरी है, इसीलिए इतना ज़ोर से रो रहे हैं। जो रो नहीं रहा, उसने कम-से-कम ये आशा बाकी रखी है कि जिलाऊँगा।

बहुत ज़ोर से विरोध मत प्रदर्शित करो। इतना चिल्ला-चिल्लू के, इतना हाय-हाय कर के तुम सिर्फ एक तरीका पैदा कर रहे हो, जो है, उसी को चलते देने का, कि ये चलता रहे।

जिन्हें बदलाव करना होता है, वो बड़े शांत लोग होते हैं। वो चीख-पुकार नहीं मचाते। ईमानदारी और शान्ति; ईमानदारी से जानते हैं कि क्या हालत है, झूठ नहीं बोलते, और शान्ति से परिवर्तन को आने देते हैं। क्योंकि जानना परिवर्तन को लाएगा ही, तुम्हें हाथ-पाँव थोड़ी चलाने हैं। जहाँ चेतना है, वहाँ परिवर्तन होकर रहेगा। तुम एक बार जान गए कि मामला क्या है, अब परिवर्तन अपने-आप होगा। तुम्हें शांत रहना है।

प्र: यानि कि अगर हम भावुक हो रहे हैं तो जान जाओ कि मामला गड़बड़ है।

आचार्य: मामला गड़बड़ नहीं है! तुम गड़बड़ मामले को बचाए रखना चाहते हो।

प्र: हाँ, क्योंकि मैं विरोध में हूँ बदलाव के।

आचार्य: हाँ। बदलाव के लिए शोर मचाकर तुम बदलाव को बाधित करते हो। तुम इतना चिल्लाते हो न कि ये बदलना चाहिए, वो बदलना चाहिए। बदलाव तुम्हारे शोर मचाने से थोड़े ही होगा। वो तो बोध से होता है।

तुम जानोगे, बदलाव स्वयं आएगा।

प्र: सर, तो फिर ये इसमें बोल रहे हैं कि बाधा पता तो है कि है, पर मुझे दिख ही नहीं रही है।

आचार्य: वही तो कह रहा हूँ न कि देख लो और शोर मत मचाओ। देख भी लो और शोर भी मत मचाओ। हम दोनों में से एक ही काम करते हैं, या तो देखेंगे नहीं, और अगर देख लेंगे तो शोर मचाएँगे।

मैं कह रहा हूँ कि जान भी लो कि सब कितना फ़ालतू है और फिर शोर भी मत मचाओ। शान्ति से क्रांति को होने दो।

शान्ति से क्रांति को होने दो। क्रान्ति शोर मचाकर नहीं आती; शान्ति से आती है।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2015)

सुरक्षा नहीं मकान में, लड़की रहो उड़ान में

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, लड़कियों को काम के लिए अथवा पढ़ाई के लिए घर से बाहर बहुत कम ही भेजा जाता है, क्योंकि समाज में एक डर व्याप्त है कि कहीं उनके साथ कुछ बुरा न हो जाए। ऐसी स्थिति में हम लड़कियों को क्या करना चाहिए?

आचार्य प्रशांत: ठीक है, एक तथ्य है कि समाज में तमाम तरह की हिंसा है। तथ्य है, इसको तुम गुब्बारे की तरह फुला नहीं सकते न। और जब आदमी तथ्यों को देखे, तो तथ्यों को उनकी पूर्णता में देखना पड़ेगा।

ये सच है कि आदमी के मन में विकृतियाँ बढ़ रही हैं, पर ऐसा भी नहीं है कि समाज कभी बड़ा साफ-सुथरा रहा हो। आज तुमको अगर चारों तरफ सुनने को मिलता है, पढ़ने को मिलता है, कि ऐसी घटना और वैसी घटना, तो ऐसा भी नहीं है कि ये घटनाएँ पहले नहीं घटती थीं। सच तो ये है कि आज की औरत के हाथ में थोड़ी ज़्यादा सामर्थ्य है तो इसीलिए वो चिल्लाकर बता देती है कि मेरे साथ इस तरह दुराचार हुआ। पहले तो और जम के होता था। बता पाने की आवाज़ भी नहीं थी उसके पास। पुलिस में जाकर के एक ऐफआईआर भी नहीं लिखा सकती थी।

ये हुआ एक तथ्य कि जब कहा जाता है कि घटनाएँ बढ़ रहीं हैं, तो घटनाएँ बढ़ी तो हैं पर ऐसी कोई बाढ़ नहीं आ गयी है क्योंकि ये धारा हमेशा से बह रही है। ये पहली बात है। दूसरी बात, जब तुम कहते हो कि घटनाएँ बढ़ी हैं तो तुम बात ये करते हो कि सड़क पर, गली में और मोहल्ले में ये सब घटनाएँ हो रहीं हैं। तुम इस तथ्य को बिल्कुल ही भूल जाते हो कि ऐसी घटनाएँ सबसे ज़्यादा तो घरों के अंदर होती हैं। एक बहुत बड़ा अनुपात है उन लड़कियों का, महिलाओं का, जो घर के भीतर ही तमाम तरह के शोषण और हिंसा का शिकार होती हैं। सम्बन्धी, पिता, भाई, पति, उनकी क्या गिनती है? तो अगर तुमसे कोई कहे कि घर के बाहर मत निकलो, खतरा है, तो उनसे पूछो कि घर के भीतर क्या सुरक्षा है?

और घर के भीतर सबसे ज़्यादा असुरक्षित जानते हो कौन-सी लड़कियाँ होती हैं? जो जीवन-भर घर के भीतर ही रह गयीं। जिस लड़की के कदम खुले आकाश में नहीं निकले, जिसने दुनिया नहीं नापी, जिसने अपने हाथ मज़बूत नहीं किए, जो शिक्षित नहीं है, जो कमाती नहीं है, जिसके पास ज्ञान नहीं है, जिसका मन खुला हुआ नहीं है, सबसे ज़्यादा संभावना उसी लड़की के शोषण की है।

अगर शोषण से बचना चाहती हो, तो तब तो और भी ज़रूरी है कि तुम घर से बाहर निकलो। क्योंकि घर के बाहर खतरा है, निःसंदेह खतरा है, पर घर के भीतर, मैं तुमसे कह रहा हूँ, और बड़ा खतरा है। क्योंकि जो जगा हुआ नहीं है, जो बलहीन है, वो तो कभी भी शिकार हो जाएगा न। तुम बात-बात पर यदि निर्भर रहीं, हाथ फैलाती रहीं—पैसे दे दो, कपड़े दे दो, खाना दे दो, घर दे दो, सुरक्षा दे दो—तो तुम्हें क्या लगता है, जो कोई तुम्हें ये सब कुछ देगा, तुमसे इनकी कीमत नहीं वसूलेगा? या मुफ्त में ही मिल जाएगा?

मुफ्त में नहीं मिलेगा; कीमत दोगी।

प्र१: सर, जो परिवार को डर है, उसको कैसे दूर करें?

आचार्य: परिवार को ही बताओ ये सब कि आप एक तथ्य तो देखते हो, जो टीवी में और अखबारों में आ जाता है, पर दूसरे तथ्यों की ओर भी तो देखो न, मुझे तो पूरा जीवन जीना है।

सुरक्षा तुम्हें सबसे ज़्यादा पिंजड़ों में मिलती है, पर फिर पिंजड़ों में तुम उड़ कभी नहीं सकते। भूलना नहीं इस बात को। पिंजड़े खूब सुरक्षा देते हैं तुमको, पर वो तुम्हारे पर भी कतर देते हैं। पिंजड़ों में खाना भी मिल जाता है। पिंजड़ों की चिड़िया को सुबह-शाम खाना दे दिया जाता है। तो सुरक्षित रहना चाहती हो खूब तो किसी पिंजड़े में जाकर बैठ जाओ। चाहती हो ऐसा जीवन?

बाहर खतरा तो है। चिड़िया बाहर उड़ेगी, तो बाहर चील है और बाज़ है, चिड़िया का शिकार हो सकता है—पर तुम चुन लो कि तुम्हें शिकार होने के डर की वजह से क्या पिंजड़ा ज़्यादा पसंद है?

प्र१: नहीं, सर।

....

(उत्तरप्रदेश, 2014)

हम ऐसे बदलेंगे नौकरशाही, राजनीति, और देश को

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आप भी सिविल सेवा अधिकारी रहे हैं। मेरा सवाल ब्यूरोक्रेसी (अधिकारी-वर्ग) से है। मैं पुलीस में हूँ। आइएएस, आइपीएस हमारे ऊपर जो अधिकारी होते हैं, उनको देखा है, वो एकदम रोबोटिक ज़िंदगी जीते हैं। उनको हमने कभी खुलकर हँसते हुए या खुलकर कभी अपनी भावनाओं को प्रकट करते नहीं देखा। उनको देखकर बहुत दुःख होता है कि ये कैसी ज़िंदगी जी रहे हैं—कितनी घुटन भरी ज़िंदगी है! इतनी बनावटी और सतही ज़िंदगी जी रहे हैं, तो दिखता है कि क्या फ़ाएदा ऐसे सोशल अचीवमेंट (सामाजिक उपलब्धि) का? इतने बड़े अधिकारी हैं, कलेक्टर बन गये, डीएम हैं, पूरा जिला चला रहे हैं, वाहवाही हो रही है—पर अंदर से सब सड़ा हुआ लगता है।

मेरा प्रश्न ये है कि क्या विभागों के प्रमुखों को जागरुक होना चाहिए ताकि वो अपना विभाग बेहतर तरीक़े से संचालित रख रखें? हमें ये बहुत महसूस होता है कि यदि हमारा बॉस (अधिकारी) थोड़ा और जागरुक होता तो वो और बेहतर निर्णय ले सकते थे, हमारा काम और बेहतर हो सकता था, मात्र पेपर्स पर ही नहीं बल्कि ग्राउंड लेवेल (ज़मीनी स्तर) पर भी।

आचार्य प्रशांत: ऐसा आप सोचती हैं अपने बॉस के बारे में, और आपका बॉस भी तो अपने बॉस के बारे में ऐसा ही सोचता होगा न? ब्यूरोक्रेसी में कलेक्टर कोई सीनियर आदमी नहीं होता है। कलेक्टर एक बहुत जूनियर , कनिष्ट अधिकारी होता है। पच्चीस-तीस साल के, पैंतीस साल के लड़के, यही सब कलेक्टर बन रहे हैं आजकल। उनके ऊपर भी तो उनका बॉस बैठा है। वो अगर चाहें भी कि उन्मुक्त होकर काम करें, तो उनके जो वरिष्ठ हैं, क्या उन्हें ये अनुमति देंगे? उनके जो वरिष्ठ हैं, उनके ऊपर भी कोई बैठा है, और फिर उनके ऊपर भी कोई बैठा है। और जनतंत्र में जो सबसे ऊपर है, उसके ऊपर कौन बैठा है? उसके ऊपर आप बैठी हैं।

कलेक्टर के ऊपर कमिश्नर ; कमिश्नर के ऊपर सेक्रेटरी ; सेक्रेटरी के ऊपर *प्रिंसिपल सेक्रेटरी*। और प्रिंसिपल सेक्रेटरी के ऊपर कौन बैठा है? *मिनिस्टर*। और मिनिस्टर के ऊपर कौन बैठा है? प्रधानमंत्री। और प्रधानमंत्री के ऊपर कौन बैठी है? जनता, माने आप। तो कलेक्टर बेचारे को वैसे ही चलना पड़ रहा है जैसी हमारी जनता है।

तभी तो नहीं गया न ब्यूरोक्रेसी में, क्योंकि वहाँ व्यक्तिगत स्तर पर कोई क्रांति की ही नहीं जा सकती। वहाँ पर आपको चलना ही वैसा पड़ेगा जैसा व्यवस्था चाहती है कि आप चलो। और व्यवस्था को निर्धारित करने वाले चंद लोग नहीं हैं। वास्तव में उस व्यवस्था को निर्धारित करने वाला जन समूह है, जन सामान्य है, सड़क का आम आदमी है। और सड़क का आम आदमी कैसा है, ये मैं देख ही रहा था। तो मुझे समझ में आया कि ये सब कुछ अगर बदलना है तो आम आदमी को बदलना पड़ेगा, क्योंकि आम आदमी ही तो प्रधानमंत्रियों को चुन रहा है। प्रधानमंत्री आम आदमी का प्रतिनिधि ही नहीं, प्रतिबिंब भी है। प्रतिनिधी ही नहीं है, आम आदमी का वो प्रतिबिंब है, रेफ्लेक्शन है; जैसा आम आदमी है, वैसा ही वो है।

अब मिनिस्टर साहब अच्छे-से-अच्छे ब्यूरोक्रेट पर भारी पड़ते हैं। पड़ते हैं कि नहीं पड़ते हैं? एक अनपढ़ मिनिस्टर कैबिनेट सेक्रेटरी पर भारी पड़ता है। पड़ता है कि नहीं पड़ता है? और कैबिनेट सेक्रेटरी ब्यूरोक्रेसी का सरताज है, उससे ऊपर कोई होता नहीं। अभी दिल्ली में घटना घटी थी: सेक्रेटरी साहब पीट दिए गए। शायद छह महीने पहले की बात होगी। दिल्ली सरकार के मंत्रियों ने मिलकर के मारा सेक्रेटरी को। अब ये वरिष्ठ आईएएस हैं, चीफ सेक्रेटरी को मारा।

तो मेरा दिमाग खराब था कि मैं वहाँ...! खैर, मैं चला भी जाता तो कुछ बहुत होना नहीं था, एक-दो साल में मुझे निकाल ही देते वो। मैंने कहा, "तुम मुझे निकालो, इससे अच्छा मैं ही इस्तीफा दे देता हूँ"। तो धर दिया इस्तीफा!

तो ये मत सोचिए कि बेचारे कलेक्टर की कोई गलती है। बहुत सारे ब्यूरोक्रेट्स को जानता हूँ, ऐसा नहीं है कि वे सब-के-सब मुर्दा लोग हैं; उनमें भी एक आग है। बहुत सारे तो आईआईटी इत्यादि से ही हैं, वहाँ से बहुत निकलते हैं। जो लोग फिर गए सिविल सर्विसेज़ में, उनको मैं जानता हूँ कि जब वो छात्र थे तब कैसे थे। बढ़िया लोग थे। उनमें भी जवानी थी, कुछ कर गुज़रने का जज़्बा था, शायद अभी भी होगा—पर जब तुम एक तंत्र में प्रवेश कर जाते हो, वो भी

एक भारी-भरकम तंत्र में, तो पलड़ा हमेशा तंत्र की ओर झुका रहता है, तंत्र बहुत भारी है।

तुम तंत्र में बदलाव ला सकते हो। लोग कहते हैं, "सिस्टम को बदलना है तो सिस्टम के भीतर जाना होगा" इत्यादि। अरे बाबा, तुम अपनी औकात को देखो और सिस्टम को देखो। कौन किसको बदल देगा, बताओ? जब तुम्हारा और सिस्टम का आमना सामना होगा, तो निश्चित रूप से दोनों एक दूसरे को प्रभावित करेंगे। तुम व्यवस्था को बदलोगे और व्यवस्था तुम्हें बदलेगी, पर ज़्यादा कौन बदलेगा? सेब और धरती के बीच गुरुत्वाकर्षण होता है। जानते हो, जब सेब धरती की ओर आता है तो धरती भी थोड़ा-सा सेब की ओर आती है? ऐसा नहीं है कि सिर्फ सेब गति करता है, धरती भी गति करती है। पर सेब कितनी गति करता है? सेब ही सारी गति करता है; धरती इतनी कम गति करती है कि पता भी नहीं चलती। धरती का डिस्प्लेसमेंट (विस्थापन) इतना कम है कि पता ही नहीं चलेगा; सेब का ही पता चलेगा।

तो सेब और धरती में जो रिश्ता है, वही एक व्यक्ति और पूरे तंत्र में रिश्ता है।

व्यक्ति भी तंत्र को बदलेगा और तंत्र भी व्यक्ति को बदलेगा। पर व्यक्ति तंत्र को आमूलचूल बदल दे, ऐसा बड़ा मुश्किल है। ऐसा भी तब होगा जब सड़क का आम आदमी बदले, क्योंकि तंत्र भी जो लोग स्थापित कर रहे हैं, वो किसके प्रतिबिंब हैं? सड़क के आम आदमी के। तो जब तंत्र को बदलने के लिए सड़क के आम आदमी की ही सहमति चाहिए, तो फिर मैं तंत्र के भीतर कोशिश क्यों करूँ? मैं बाहर आकर के देश के आम नागरिक को बदलने की कोशिश करूँगा न? तो वो करा है।

आम नागरिक अगर बदल गया, तो सारी व्यवस्थाएँ बदल जाएँगी—बदल जाएँगी कि नहीं बदल जाएँगी? तो ज़रूरी है कि आम नागरिक की चेतना को जागृत किया जाए, फिर सारी व्यवस्थाएँ बदल जाएँगी—फिर कलेक्टर , कमिश्नर क्या, प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति भी बदल जाएँगे! सब बदल जाएँगे!

इसलिए छोड़ी थी मैंने *सिविल सर्विसेस*।

प्र१: आपने कहा कि तंत्र भारी पड़ता है और अकेला व्यक्ति इतना शक्तिशाली नहीं होता है कि ज़्यादा बदलाव ला सके। और बदलाव की एक प्रक्रिया भी है जो जनता से शुरू होगी और तब जाकर वहाँ तक पहुँचेगी। पर जो लोग वहाँ तक पहुँचते हैं, जो बुद्धिजीवी लोग हैं, उनकी अपनी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है?

आचार्य: उनकी ज़िम्मेदारी ये है कि उनका बॉस उन्हें जो आज्ञा दे रहा है उसका पालन करें।

प्र: आचार्य जी, लेकिन मेरा ख़ुद का ये अनुभव है कि बॉस हमारे निर्णयों को दस प्रतिशत ही प्रभावित करते हैं, बाकि नब्बे प्रतिशत तो हम स्वयं करते हैं।

आचार्य: बिल्कुल गलत बात है।

मंत्री साहब जो आदेश दे रहे हैं, कौन-सा सेक्रेटरी है जो उसमें रंच मात्र भी बदलाव ला सकता है? मंत्री साहब ने तो चुनावों के समय ही जनता को वादा कर दिया था कि मुफ्त दाल-चावल, कलर टीवी , सब देंगे तुमको। ये बात मेनिफेस्टो (घोषणापत्र) में थी। मेनिफेस्टो क्या ब्यूरोक्रेट से पूछकर लिखा गया था? जवाब दो। चुनाव में ही मंत्री साहब जनता को वादा कर आए कि सबको इतने-इतने हज़ार रुपए मुफ्त बाँटे जाएँगे। और ये सब हुआ है, मैं काल्पनिक नहीं, बिल्कुल तथ्यात्मक उदाहरण दे रहा हूँ। और ये भी बोला गया है कि इतने किलो चावल मिलेगा, इतनी दाल मिलेगी, कलर टीवी मिलेगा, ये सब बोला गया है। अब ये सब बोल दिया गया है। मंत्री जी चुनाव में चुन लिए गए हैं। अब वो मंत्री बनकर बैठे हैं। तो वो बुलाते हैं, "आओ भई, सेक्रेटरी साहब"। सेक्रेटरी साहब कौन हैं? वो वरिष्ठ आईएएस हैं। उनसे बोलते हैं, "अब इतने हज़ार करोड़ रुपए जनता में मुफ्त बाँट दो"। क्या अब ये सेक्रेटरी मना कर सकता है? वो कहते हैं कि, "अब इतने लोगों को इस तरीके से मुफ्त दाल-चावल देना है"। सेक्रेटरी मना कर सकता है? तो आप क्या कह रहे हैं कि सेक्रेटरी नब्बे प्रतिशत तो अपने हिसाब से चलता है?

वो ये कर सकता है कि जो पॉलिसी (नीति) बना ही दी गयी है, उसके भीतर वो अपना कुछ विवेक, अपना कुछ डिस्क्रेशन लगा दे। लेकिन पॉलिसी बनाने वाला तो बॉस बैठा है न ऊपर? पॉलिसी को थोड़े ही प्रभावित कर देगा *ब्यूरोक्रेट*।

प्र१: आचार्य जी, मैं वही कहना चाह रहा था कि उनका जो इंटरेक्शन है मंत्री के साथ, उसमें बदलाव तो शायद नहीं हो सकता, पर सेक्रेटरी के हाथ में जो चीज़ें हैं, उनको तो वो बदल सकता है न?

आचार्य: ऊपर पॉलिसी बन गयी। गलत पॉलिसी को तुम सही-से-सही तरीके से भी अगर कार्यान्वित कर दोगे, इंप्लीमेंट कर दोगे, तो तुमने क्या कर लिया? कमिश्नर कलेक्टर से क्या करवाएगा? पॉलिसी का एग्जीक्यूशन ही तो करवाएगा न? और वो पॉलिसी कहाँ से आ रही है? वो ऊपर से आ रही है। जब मूलभूत पॉलिसी ही गलत है, तो उसका अच्छा एग्जीक्यूशन करके भी तुम क्या पा लोगे? बोलो, क्या पा लोगे?

और ज़्यादा चूँ-चूँ करोगे, तो खैरनार याद है न? ज़्यादा अगर गड़बड़ करोगे तो किसी नियम ने कोई बाध्यता नहीं लगा रखी है कि कितने तबादले हो सकते हैं तुम्हारे, और कितनी बार निलंबित हो सकते हो—इसपर कोई ऊपरी सीमा नहीं होती है, हर छह महीने में तुम्हारे तबादले होते रहेंगे।

प्र: एक ही दिन में दो बार हो जाते हैं।

आचार्य: अब कर लो जो करना है!

ये सब कह कर के मैं नहीं चाहता हूँ कि अगर कोई एस्पायरिंग ब्यूरोक्रेट हों, तो वो हतोत्साहित अनुभव करें। ना ही मैं ये चाहता हूँ कि सरकारी सेवाओं में जो लोग कार्यरत हैं, भले ही ब्यूरोक्रेट हों या कुछ भी हों, वो निराश या हतोत्साहित अनुभव करें। पर मैं तथ्य बता रहा हूँ। तथ्य ये है कि जब तक ज़मीनी बदलाव नहीं आता, तब तक ऊपर से बदलना बहुत मुश्किल है। जनता अगर गलत हो, तो उसे अगर एक सही नेता मिल भी गया, तो उस सही नेता को चुनेगी नहीं। धोखे से अगर चुन भी लिया, तो उसकी सरकार को चलने नहीं देगी। तुम ये भूलो मत कि देश के जो सबसे पिछड़े हुए राज्य हैं, वहाँ ही सबसे गलत नेता चुने जा रहे हैं। अगर लोग ही गलत हों और उन्हें किसी तरह से एक सही नेता मिल भी जाए, तो क्या वो उस सही नेता को जीने देंगे, काम करने देंगे? बोलो?

तो सबसे पहले लोगों को बदलना ज़रूरी है न?

हम नेताओं को कहते रहते हैं, "ये नेता बुरा है"। नेता को गाली देते हैं। एक सही उम्मीदवार चुनाव में खड़ा हो जाए, उसका जीतना देखा है कितना मुश्किल हो जाता है? हाँ, अब स्थितियाँ कुछ बदल रही हैं, क्योंकि लोगों में शिक्षा का स्तर बढ़ रहा है, सूचना बहुत तेज़ी से फैल रही है सोशल मीडिया के कारण, तो अब थोड़ा आसान हो गया है कुछ साफ-सुथरे लोगों के लिए भी चुनाव लड़ना, राजनीति में प्रवेश करना। पर आज से दस-बीस साल पहले देखो तो बड़ी विकट स्थिति थी।

अभी चुनाव चल रहे हैं। जानते हो, लोकसभा का चुनाव अगर लड़ना है, और गंभीरता से लड़ना है, तो कम-से-कम कितना खर्च करने के लिए तुमको तैयार रहना चाहिए? कम-से-कम? पाँच करोड़ कम-से-कम! और विधानसभा लड़नी है तो एक-दो करोड़। कुछ अपवाद हो सकते हैं, पर मैं औसत की बात कर रहा हूँ। अब ये जो पाँच करोड़ लग रहा है, ये क्यों लग रहा है? क्योंकि हम लोग ऐसे हैं; जो ज़्यादा प्रचार कर देता है, वो हमें प्रभावित कर ले जाता है, हमारा वोट भी प्रभावित हो जाता है, हिल जाते हैं हम। अगर हम जागृत लोग होते तो हम कहते कि जो ज़्यादा प्रचार करेगा, उसका प्रचार देख कर ही उसको वोट नहीं देंगे! जिसको इतना प्रचार और इतना विज्ञापन करना पड़ रहा है, वो आदमी ही गलत होगा। परंतु हम ऐसे लोग नहीं हैं न, हम तो चाहते हैं कि प्रचार हो, शराब की बोतलें बटें, सौ-सौ रुपए में वोट कटें। नहीं तो ये सब क्या चीज़ें हैं—बूथ मैनेजमेंट ? क्या ज़रूरत है भाई बूथ मैनेजमेंट की? जनता आएगी, वोट डालेगी। ये बूथ मैनेजमेंट क्या होता है? पर इन सब की ज़रूरत पड़ती है क्योंकि जनता जागृत नहीं है।

जनता जागृत होगी तो देश बदलेगा, तंत्र बदलेगा, नेता बदलेंगे, अफसर बदलेंगे, सब बदलेगा।

और जनता को जागृत किए बिना जो लोग चाहते हैं कि व्यवस्था बदल दें, तंत्र बदल दें, वो सपने ले रहे हैं, उन्हें सपने लेने दो। ऐसे बहुत लोग हैं जो ये बात ही नहीं करते कि जनमानस कैसा है। वो ये बात ही नहीं करते कि आम आदमी की चेतना कैसी है। वो कहते हैं, "नहीं, व्यवस्था बदलनी चाहिए। हम सिस्टम बदलेंगे।" सिस्टम बदल कर क्या होगा? सिस्टम को चलाने वाले कौन? हम लोग! अच्छे-से-अच्छा सिस्टम दे दो, हम उसको तबाह कर देंगे! भारत का इतना सुंदर संविधान है, तो? जिन्हें बर्बादी करनी है, वो तो कर ही रहे हैं न। और लोग अगर जागृत हों, तो संविधान की बहुत ज़रूरत ही नहीं है। करना ही क्या है फिर नियम-कायदे का? लोग ही जागृत हैं।

समझ रहे हैं बात को?

और लोगों के जागरण का क्या तरीका है?

(सत्संग की ओर इशारा करते हैं) वो ये है।

तो मैं यहाँ बैठकर क्या कर रहा हूँ असल में? मैं यहाँ बैठकर असल में कलेक्टर , कमिश्नर , राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री—इन सबको बदलने की एक छोटी-सी कोशिश कर रहा हूँ।

आप बदलोगे, तो आपके माध्यम से सब बदल जाएंगे। यहाँ बैठकर हम सब सामूहिक रूप से कोशिश कर रहे हैं इस वक्त कि पूरी दुनिया बदल जाए। अध्यात्म कोई व्यक्तिगत मसला भर नहीं है, कि मेरे व्यक्तिगत जीवन में शांति आ जाए। हम अभी जो कर रहे हैं, वो देश सुधार, समाज सुधार, तंत्र सुधार, राजनीति सुधार, जगत सुधार का आंदोलन है। ये आमूलचूल क्रांति है जो इस वक्त यहाँ पर हो रही है। ये न समझिएगा कि अध्यात्म तो बंद कमरे के भीतर भजन-कीर्तन और सत्संग का नाम है। यहाँ से लहरें निकल रही हैं जो हर दिशा में फैलेंगी और सब कुछ बदल डालेंगी चुपके-चुपके। अभी आंदोलन छोटा है तो पता नहीं चल रहा, पर ये बढ़ेगा, विस्फोट की तरह फैलेगा, और सब बदलेगा। सब कूड़ा-कचरा जल जाएगा; रोशनी होगी। हाँ, उसमें कितना वक्त लगेगा, पता नहीं। आप और हम जीते-जी वो सब देख पाएंगे या नहीं, पता नहीं। परंतु ये क्रांति रुकने वाली नहीं है। ये जो हो रहा है, ये तो होकर रहेगा। हम-आप उसको देखें-न-देखें, हमारे-आपके माध्यम से हो न हो, पर होगा ज़रूर।

प्र: इसमें उसका का भी कोई हाथ रहेगा या हमारे प्रयास से ही होगा?

आचार्य: आप उसके बिना प्रयास कर सकते हो क्या? आपने तो मान लिया जैसे आप और वो अलग-अलग हैं। आप कह रहे हो, "या तो वो करेगा या हम करेंगे"। ऐसा भी तो हो सकता है कि आप उसके सेवक बनकर करो। तो

सेवक जो करता है, वो वास्तव में कौन कर रहा है? मालिक कर रहा है। लग रहा है कि सेवक ने किया, पर कर तो मालिक ही रहा है। तो करेंगे आप ही, पर वास्तव में उसका कर्ता वो है।

जब तक मन में भ्रांतियाँ हैं, धारणाएँ हैं, जब तक माया सर पर चढ़ी हुई है, तब तक आप सही जनप्रतिनिधि भी कैसे चुनोगे? आप सीधा-सीधा संबंध देख पा रहे हो? कोई जगह पिछड़ी हुई क्यों है? कोई जगह अशिक्षित क्यों है? कोई जगह बिल्कुल व्यर्थ किस्म के नेता क्यों चुनती है? कोई जगह अंधविश्वास में इतनी लिप्त क्यों है? ये सब बातें साथ-साथ चल रही हैं कि नहीं चल रही हैं? इसीलिए जन-जागरण आवश्यक है।

आदमी का मन प्रकाशित होगा, जमीन पर रौनक छा जाएगी। मन ही अगर अंधेरे में है, तो फिर खंडहर भवन, टूटे हुए पुल, खस्ताहाल सड़कें, जर्जर स्कूल, लापता अस्पताल—ये ही राज्य की हालत रहेगी। बाहर की उस खस्ताहाल, जर्जर हालत का कारण क्या है? आदमी का आंतरिक अंधेरा और अंधविश्वास। जब तक तुम्हारे मन में अंधविश्वास है, तब तक स्कूल, अस्पताल, सड़कें बिजली, पानी—इन सबकी हालत खराब ही रहेगी। तुम बहुत ही भद्दे किस्म के नेता चुनते रहोगे, और अच्छे नेता आ भी जाएंगे तो तुम उन्हें काम नहीं करने दोगे।

इन सब बातों का पारस्परिक संबंध आप देख पा रहे हैं या नहीं देख पा रहे हैं? ये सब बातें आपस में जुड़ी हुई हैं। इसीलिए अध्यात्म हर तरह की तरक्की का केंद्र है। अध्यात्म का मतलब त्याग, सन्यास और विरक्ति ही नहीं होता; अध्यात्म का मतलब होता है ज़बरदस्त प्रगति भी।

आदमी के मन के अंधेरे को हटाने का नाम है अध्यात्म, और रौशन मन से आप क्या नहीं कर सकते? जो कुछ भी करोगे, बेहतर ही करोगे।

मैं इसीलिए कहता हूँ सबसे कि साथ दो। ये बात बस हमारी-तुम्हारी नहीं है। यहाँ लोग इतने ही बैठे हैं, पर ये बात पूरी दुनिया की है। सुनने में अजीब लगेगा लेकिन इस कमरे में इस वक्त एक विश्वव्यापी आंदोलन चल रहा है। "अरे, कमरे में वैश्विक आंदोलन?” हाँ, कमरे में इस वक्त वैश्विक आंदोलन चल रहा है! उसमें सहभागी बनो।

....

(उत्तराखंड, 2019)

आज का युद्ध, आज का कुरुक्षेत्र, और आज का धर्म

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, मुझे अध्यात्म में बहुत कुछ सीखने को मिला है लेकिन मुझे ऐसा लग रहा है जैसे मेरे हाथ में धनुष है, प्रत्यंचा खींची हुई है लेकिन मैं तीर नहीं चला पा रहा हूँ, और मैं तनाव में हूँ। मैं तनाव में क्यों हूँ?

आचार्य प्रशांत: यह तनाव उन्हीं के हिस्से की चीज़ है जिन्हें कुछ समझ में आने लगा है। इस युग में आपको यह सुविधा उपलब्ध नहीं है कि आप 'सत्य' को जानें और फिर भी आप अपने सामान्य, साधारण जीवन में रत रहे आएँ। रहे होंगे ज़माने पुराने, जब यह हो सकता था कि आप सत्य के साधक हुए तो या तो आप समाज से कट गए, या फिर समाज में रहे भी तो चुपचाप अपना कोई छोटा-मोटा काम करते रहे और राम भजन करते रहे। कोई अपनी छोटी दुकान चला रहा है, कोई किसानी कर रहा है और प्रभु की माला जप रहा है—वह ज़माने दूसरे थे।

यह एक विचित्र संक्रमण काल है। इस समय अगर आपने कुछ जाना है तो उसे आपको कर्म में परिणित करना पड़ेगा। यह इस युग की बात है, थोड़ा उदाहरण से समझिएगा, दो उदाहरण लूँगा—एक वेदांत से और दूसरा सिख गुरुओं से। प्रस्थानत्रयी होती है सनातन धर्म में—उसमें उपनिषद आते हैं, श्रीमद्भगवद्गीता आती है, ब्रह्मसूत्र आते हैं। उपनिषदों को लीजिएगा और श्रीमद्भगवद्गीता को लीजिएगा। बात तो उनमें एक ही कही गई है, ठीक? अब दो दृश्य आमने-सामने रखिएगा। ऋग्वेद के या यजुर्वेद के कोई ऋषि अपने शिष्यों को ज्ञान दे रहे हैं। तो ऋषिराज बैठे हुए हैं और सामने शिष्य हैं। बहुत ज़्यादा नहीं होते थे, दस-बीस। वह बैठे हुए हैं, उनको समझाया जा रहा है। शांत माहौल है। समझा दिया गया और समझ जाने के उपरांत शिष्य सब चले गए। कोई पूजा में लग गया, कोई जंगल निकल गया लकड़ी बीनने के लिए, कोई स्वाध्याय के लिए बैठ गया थोड़ी देर, कोई थोड़ा ध्यान में बैठ गया, यह सब चल रहा है। शांत माहौल है। ज्ञान के उपरांत हमें दैनिकचर्या दिखाई देती है—गुरु ने शिष्य से बात कही, शिष्य चला गया है, कोई छोटा काम कर रहा है, कोई मोटा काम कर रहा है, कोई इधर, कोई उधर। ठीक वही बात कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं। कृष्ण ने भी ज्ञान दिया और अर्जुन ने भी ज्ञान पाया। लेकिन ज्ञान पाने के तत्काल बाद अर्जुन ने क्या किया? युद्ध किया। अब यह तो अजीब बात है! वही ज्ञान उपनिषदों के शिष्यों को उपलब्ध हो रहा है तो वह शांतिपूर्वक जाकर हवन-पूजन कर रहे हैं, या क्या पता कोई सोने ही चला गया हो, कोई चुपचाप जाकर जंगल में बैठ गया हो, कोई बंसी बजाने लगा तो वहाँ तो ऐसा लगा कि ज्ञान से आती है—शांति। देखो इन्हें ज्ञान मिला और ये सब जाकर के कितनी शांति से बैठ गए। और ठीक वही ज्ञान—प्रस्थानत्रयी में वेदांत और श्रीमद्भगवद्गीता बिलकुल अगल-बगल

रखे जाते हैं—जब श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण अर्जुन को दे रहे हैं तो अर्जुन ने वही ज्ञान पाया और उसके बाद तीरों की वर्षा की।

आज का समय कुरुक्षेत्र का समय है। आज अगर आपको ज्ञान मिला है तो आप यह नहीं कर सकते कि चुपचाप जाकर, झाड़ पर बैठकर बंसी बजाऊँगा। आज का समय वह है कि अगर ज्ञान मिला है अभी-अभी, तो धनुष उठाओ! आप कह रहे हो कि, 'धनुष उठा हुआ है, प्रत्यंचा खींची हुई है, तीर छूट नहीं रहा', यह तो कृष्ण का अपमान ही हुआ न? कुरुक्षेत्र है यह। जिसे ज्ञान मिल रहा हो और ज्ञान पाने के बाद भी अगर वह तीर ना चला पा रहा हो तो वह कृष्ण का अपमान ही कर रहा है। और फिर इस अपमान की सज़ा मिलती है, तनाव रहता है भीतर।

युद्ध कहाँ है? युद्ध कहाँ है, बताइए न?

इसी तरीके से जब आप जाएंगे प्रथम गुरु के पास तो वो कह रहे हैं—हुकुम रजाई चलना। शांति के पैगम्बर हैं, जिससे मिल रहे हैं, उसे शांति का ही संदेश दे रहे हैं। और अब आइए दशम गुरु के पास, और वह क्या कह रहे हैं? तलवार उठाओ—'निश्चय कर अपनी जीत करूँ'। वहाँ क्या कहा जा रहा है?

'मैं कौन? मैं तो उसके हुकुम पर चलूँगा'—ये गुरुनानक देव की वाणी है कि मैं तो सिर्फ उसके हुकुम पर चलूँगा। स्थितियाँ बदलती हैं, अब आइए गुरु गोविंद साहब के सामने और वह आपसे क्या कह रहे हैं?—'निश्चय कर अपनी जीत करूँ!' गुरु नानक देव तो 'मैं', 'मेरी', 'अपनी' जीत जैसी कोई बात ही नहीं कर रहे हैं; गुरु गोविंद साहब कुछ और कह रहे हैं। दोनों बात तो एक ही कह रहे होंगे क्योंकि गुरुओं की श्रंखला है और आत्मा तो एक होती है। बात अलग-अलग तो नहीं हो सकती। पर माहौल का अंतर होता है न? आज का माहौल वही माहौल है जिसमें दशम गुरु थे। अब इस माहौल में अगर आप कहेंगे "मुझे ज्ञान तो है लेकिन तीर नहीं चलाना। अधिक-से-अधिक मैं कमान पर चढ़ा दूँगा तीर, मैं प्रत्यंचा खींच कर रखूँगा, तीर खींच के खड़ा हो जाऊँगा, फोटो खिंचा लूँगा," तो बात नहीं बनेगी, तीर चलना चाहिए।

भारद्वाज का, याज्ञवल्क्य का ज़माना कुछ और था और कृष्ण का बिलकुल दूसरा था, वह स्थिति बिल्कुल दूसरी थी। यह स्थिति वही है, जब सामने दुश्मन खड़ा हो तो तीर की भाषा में, कृपाण की भाषा में बात करनी पड़ती है न?

नानक साहब ने तो कभी कृपाण की बात नहीं करी थी। करी थी क्या? पर आज कृपाण की बात करनी पड़ेगी और कृपाण तो बस हाथ में रखने की चीज़ है नहीं, उसका प्रयोग भी करना पड़ेगा, तीर चलाना भी पड़ेगा। मैंने बार-बार कहा है कि अध्यात्म अगर असली है तो उसके सामाजिक सरोकार होंगे। आज की साधना एकांत की साधना नहीं हो सकती। आज की साधना सक्रीय सामाजिक साधना ही होगी।

आपको समाज में निकलना पड़ेगा, आपको युद्ध ही करना पड़ेगा। आप छुपे-छुपे भक्त नहीं रह सकते अब कि अपने कमरे के भीतर भक्ति चल रही है। ये बात समझ नहीं आती मुझे कि 'आश्रम के भीतर ध्यान लगा के बैठे हैं'! आश्रम को अब मठ नहीं, गढ़ होना होगा। मठ माने—पूजा, अर्चना, ध्यान; गढ़ माने—किला, जहाँ से युद्ध का संचालन होगा। तो बाहर निकलिए। देखिये दुनिया की हालत को!

आज मैं सुखना झील के पास बैठा था शाम को, वहाँ पर देखता हूँ एक नौजवान पुलिस का था, सिख नौजवान। वह बड़ी कोशिश कर रहा है, एक कुत्ते को झंझोड़ रहा है, उसके मुँह में पानी डाल रहा है, मैं पास गया और देखा क्या है। बोला इसको किसी ने ज़हर दे दिया। और उसने पूरी कोशिश कर ली उसकी पीठ भी दबाया। बल्कि और लोग आकर उसे बोल रहे हैं—'छोड़ दे, यह मर गया है', लेकिन उसने कहा—'नहीं, अभी इसकी हार्टबीट चल रही है'। पानी भी डाल रहा है उसकी पिछली टाँगे उठाकर ताकि खून ज़्यादा से ज़्यादा उसके ब्रेन में पहुँचे। जो भी कर सकता था सब करा पर वह नहीं बचा। कल ही कोई बता रहा था कि किसी महिला ने कुत्ते के बच्चों को आग ही लगा दी।

यह सुनने में बात अजीब लगेगी लेकिन हर युग के युद्ध अलग होते हैं। आपने बहुत धर्म सुने होंगे लेकिन जिस धर्म का वास्तव में पालन किया जाता है, वह होता है—'युगधर्म'। इस युग का धर्म पहचानिए! आप इस युग में पिछले युग के युद्ध नहीं लड़ सकते। कहाँ है दुर्योधन जिसको आप मारेंगे, बताइए? वह पिछले युग में मारा जा चुका। आज कोई दुर्योधन नहीं है जिससे आप लड़ें। बीती लड़ाइयाँ थोड़े ही लड़ी जा सकती हैं; लड़ाई तो वही लड़ोगे न जो सामने है। आज का युद्ध यही है—स्वार्थ की, अज्ञान की ताकतों से लड़ना है, पूँजी की ताकतों से लड़ना है, विनाश की ताकतों से लड़ना है, जो जंगलों को खत्म कर दे रहे हैं उनसे लड़ना है, जो प्रजातियों को विलुप्त किए दे रहे हैं उनसे लड़ना है। आप कहेंगे पर ऐसा तो किसी ग्रंथ में लिखा नहीं है। अरे भाई! ऐसा किसी ग्रंथ में इसीलिए नहीं लिखा क्योंकि पहले कभी ऐसा हुआ नहीं। अगर तब ऐसा होता तो उन्होंने भी लिखा होता न! तो हम अध्यात्म के नाम पर अधिक-से-अधिक क्या कर लेते हैं?—पूजा, अर्चना। क्योंकि वह सब पहले भी होती थीं। पहले होती थीं, ठीक है, लेकिन आज अगर सिर्फ़ पूजा-अर्चना करोगे तो ठीक नहीं है।

अर्जुन अगर ऐसा कहने लग जाए कि, "वेदांत में तो ऐसा हुआ नहीं है कि शिष्य ने ज्ञान पाया और शिष्य तीर चलाने लगे। तो हे केशव! मैं भी आपसे ज्ञान तो ले लूँगा, लेकिन तीर नहीं चलाऊँगा, क्योंकि देखिए, वेदों में ऐसा नहीं होता था कि शिष्य ज्ञान लेने के बाद तीर चलाए। वेदों में तो शिष्य ज्ञान लेने के बाद समाधि में चला जाता था, तीर तो नहीं चलाता था। तो केशव, अब मैं भी तीर नहीं चलाऊँगा।" अर्जुन अगर ऐसा कह देते तो? उस युग का क्या धर्म था? ज्ञान मिला है तो तीर चलाओ! आज के युग का धर्म यह है कि ज्ञान मिला है तो बाहर निकलो!

प्रश्नकर्ता: दुश्मन को पहचानना है?

आचार्य प्रशांत: बहुत बढ़िया बात! दुश्मन छुपा हुआ है। दुर्योधन तो बड़ा ईमानदार बंदा था, सामने खड़ा हो गया था, उपलब्ध था, मारना है तो मारो। मरा भी तो वो लड़ते-लड़ते ही मरा। अपनी ओर से तो वह बेईमानी भी नहीं कर रहा था, लड़ ही रहा था। आज तुम्हारा दुश्मन बहुत होशियार, बहुत चालाक है, सामने नहीं आ रहा। बुद्धि का इस्तेमाल करो, देखो वह कहाँ छुपा हुआ है। झील के पास था दुर्योधन भी और अंत में झील में ही जाकर छुप गया था, पर जैसे ही पांडवों ने चुनौती दी, वह झील से बाहर आ गया। बोला कि आ गया मैं लड़ने के लिए, और बोलो एक से लड़ूँ या तुम पाँचों से एक साथ लड़ूँ?

आज का जो दुश्मन है वह झील के नीचे छुपा है, बाहर नहीं आ रहा है। जानते हैं चंडीगढ़ की झील के नीचे क्या छुपा हुआ है? क्या छुपा हुआ है? टनों कचरा! ऊपर-ऊपर सब ठीक है, नीचे से झील मर रही है। इतनी भी ईमानदारी नहीं कि जो नीचे है वह बाहर आकर अपना चेहरा दिखा दे। जो नीचे है वह छुपा रहेगा और नीचे ही नीचे सब को बर्बाद कर देगा। कहाँ से आ रहा है वह कचरा? पता करिए! जहाँ से भी आ रहा है उससे लड़िए। और मेरा आशय यह नहीं है कि जिसने कचरा फेंका है उससे लड़ो! यह जो पूरा तंत्र है, जो आपको सिखा रहा है—भोगो! भोगो! और भोगो! कि यह पूरी पृथ्वी भोगने के लिए ही है। भोगने के बाद चाहे पहाड़ हो, झील हो, उसमें कचरा कर दो, बर्बाद कर दो। पूरी दुनिया है ही इसीलिए कि तुम उसका बलात्कार कर दो। इसी तंत्र से लड़ना है। यह आज का दुश्मन है और यह बहुत भयानक दुश्मन है। पुराणों में आप कथाएँ पढ़ते हैं कि एक राक्षस था जिसके पाँच सर थे। आप कहते हैं—"बाप रे! विकराल"। दस सर का रावण हो गया तो कहते हैं—"बाप रे! दस सर"। आज जो आपका दुश्मन है उसके करोड़ों सर हैं, और सबसे खतरनाक बात यह है कि उनमें से एक सर आपका भी है। आपका दुश्मन आपके सर में ही घुसा हुआ है, और आपके सर को भी इस्तेमाल कर करके उसने अपना सर बना लिया है। इतना विकट युद्ध है ये, पर लड़ना है न?

"भोग" है आज का धर्म। एक वीडियो है मेरा यूट्यूब पर, पिछले एक महीने से वो काफी गति ले रहा है—"वासना हटाने का सीधा उपाय"। पिछले दो-तीन दिनों से उसको देखने वालों में काफी इज़ाफ़ा हो गया है। तो मैं कल रात उसपर जो कमेंट आए थे उनको पढ़ रहा था और बहुत कमेंट थे इसी तरह के कि 'वासना को हटाएँ ही क्यों? मज़ेदार चीज़ है। हम तो और करेंगे। और वासना आए तो स्त्री पकड़ो! सीधे-सीधे न मिले तो उठाकर ले आओ और वो प्रबंध भी ना हो पाए तो हस्तमैथुन करो", और मैं बड़ी सभ्य भाषा का प्रयोग कर रहा हूँ, जिन्होंने लिखा था उन्होंने इतनी सुसंस्कृत भाषा में नहीं लिखा था। अभी भी लिख रहे होंगे। प्रतिपल इस तरह के कमेंट आ रहे होंगे। यहाँ पर एक स्क्रीन होती तो हम देख सकते थे हर मिनट पर एक कमेंट आ रहा है। मैं नहीं कह रहा सब ऐसे ही आ रहे हैं, लेकिन इससे पता चलता है कि आज का नौजवान कैसा हो गया है। और आज का नौजवान माने कमरे के बाहर जो कोई घूम रहा है वो नहीं, आज का नौजवान माने आपका भाई, आपका बेटा, आपकी बेटी, शायद आप ही, हम सभी।

बलात्कार जितने हो रहे हैं बस उतने ही हो रहे हैं, इसका भी कारण है कि लोग ज़रा डरे हुए हैं, नहीं तो आज हर मन

बलात्कारी है! जो मन गंगोत्री पर जाकर गंदगी फैला सकता है—मैं आमंत्रित कर रहा हूँ आप सबको कि आप जाएँ और देखें वहाँ का हाल और जा नहीं सकते तो बहुत सारी डॉक्युमेंट्रीज़ हैं, वीडियोज़ हैं, उनको देखें, उनका हाल देखें। जो मन गंगोत्री को गंदा कर सकता है, जो मन पहाड़ों को काट सकता है, जो मन गंगा को बहुत जगहों पर नाला बना सकता है, वह मन कैसे नहीं बलात्कार करेगा? पुरुष भी बलात्कारी, स्त्रियाँ भी बलात्कारी, जवान भी बलात्कारी, बूढ़े भी बलात्कारी, अधार्मिक भी बलात्कारी और घोर धार्मिक भी बलात्कारी!

यह भोग का युग है, आज का धर्म है सिर्फ भोग! सिखा दिया गया है सबको तुम्हारे निजी और छोटे स्वार्थों के आगे कुछ नहीं है—बी हैप्पी! सबको बता दिया गया है—हँसो! हँसो! मेरे वीडियोज़ पर कमेंट आते हैं—'आप इतने गंभीर क्यों रहते हैं? आप हँसते क्यों नहीं?' तुमने कबीर साहब को हँसते हुए देखा? तुमने बुद्ध को हँसते हुए देखा? वेदों के ऋषियों की हमारे पास तस्वीरें नहीं हैं, पर जो उनके चित्र भी पाते हो, उसमें वह हँस रहे होते हैं क्या? क्राइस्ट हँसते हुए नज़र आते हैं? नानक साहब का कोई चित्र देखा है हँसता हुआ? पर आज का युग आपत्ति करता है, वह कहता है—हँसो! हँसो! अगर तुम हँस नहीं रहे तो तुम गुनाह कर रहे हो क्योंकि हँसने का संबंध है भोगने से। भोगने से खुशी मिलती है तो भोगो और हँसो। आज के गुरु-जन भी भोगना और हँसना सिखा रहे हैं। जाकर के देखो—वो हँसते हैं, मुस्कुराते हैं। किस बात पर मुस्कुरा रहे हो भाई? क्या है मुस्कुराने जैसा? हँसते थे बाबा फ़रीद?

सारी बातों का मूल एक है:

चार दिन की ज़िंदगी है, मौज कर ले यार। जन्म के पहले कुछ नहीं था, और मौत के बाद नहीं संसार। मौज कर ले।

एक ने मुझसे कहा—आप बार-बार क्यों बोलते हैं इतनी प्रजातियाँ विलुप्त हो रही हैं? पृथ्वी के विकास में लाखों प्रजातियाँ तो विलुप्त हो चुकी हैं पहले भी। कुछ और हो जाएँगी तो फ़र्क क्या पड़ता है? मन में तो आया कि कह दूँ—लाखों लोग रोज़ मरते हैं, लाखों लोग, तेरा एक बच्चा भी मर जाएगा तो फ़र्क क्या पड़ता है? तो मरने दे न अपने बच्चे को।

प्रेम नहीं समझते हैं। यह प्रेमहीनता का युग है। संबंधों में प्रेम कहीं नहीं है, स्वार्थ पूरा है। घनिष्ट-से-घनिष्ट संबंधों में भी प्रेम नहीं है और यह सब बातें आपस में जुड़ी हुई हैं। तुम एक चिड़िया के साथ क्या कर रहे हो और तुम अपनी बिटिया के साथ क्या कर रहे हो यह बहुत अलग-अलग नहीं हो सकता, मानो मेरी बात! यह धर्महीनता का युग है। बाहर निकलना पड़ेगा, धर्म युद्ध लड़ना पड़ेगा। तीर-तरकस लेकर कमरे में मत बैठे रहो। जो जितना कर सकता है करे और पूरी जान से करे। आज के युग के अध्यात्म को, मैं फिर कह रहा हूँ, सक्रिय सामाजिक होना ही पड़ेगा और जब मैं समाज कह रहा हूँ तो मेरा आशय सिर्फ मनुष्यों के समाज से नहीं है, सब शामिल हैं उसमें। तुम्हें पूरी पृथ्वी की फ़िक्र करनी ही पड़ेगी। और मैं पूरी पृथ्वी भी सिर्फ इसलिए बोल रहा हूँ क्योंकि अभी पृथ्वी के आगे के जीवन का

तुम्हें कुछ पता नहीं। किसी युग में अगर ऐसा भी होगा कि तुम्हें कहीं और के जीवन का भी पता चलेगा और तुम उनके संपर्क में आओगे तो धर्म यह कहेगा कि उनकी भी फ़िक्र करो चाहे वह किसी ग्रह, किसी आकाशगंगा, किसी तारे पर हों। अभी जितना जानते हो उतना तो करो।

प्रश्नकर्ता: एक थोड़ा-सा भ्रम है, आपने जो बात कही—कृष्ण, अर्जुन, वेदों के ऋषियों की—उनके आधार पर मैं अपना सवाल रखने की कोशिश करता हूँ। गीता में लिखा है कि अर्जुन के मन में जो दुश्मन का अंश था वह कृष्ण के उपदेश के बाद धुल गया था।

आचार्य: यह रहेगा। अट्ठारह दिनों में आपने कितनी बार तो देखा अर्जुन को कंपित होते हुए। ऐसा थोड़े ही हुआ था कि पहले ही दिन कृष्ण के संसर्ग से अर्जुन के ज्ञान चक्षु खुल गए थे। ऐसा हुआ था क्या? ऐसा तो नहीं हुआ था। अभिमन्यु की मृत्यु हो, चाहे भीष्म पर बाण चलाने की बात हो, चाहे द्रोण पर बाण चलाने की बात हो, चाहे कर्ण सामने खड़ा हो—हर मौके पर अर्जुन हिला, बार-बार कमज़ोर पड़ा। असली बात यह है कि उस कमज़ोरी के साथ भी वो लड़ता रहा। यह इंतजार मत करो कि कमज़ोरी का आख़िरी कतरा भी तुमसे बाहर हो जाए, वह कभी नहीं होने वाला। तुम परफ़ेक्शन की तलाश कर रहे हो, वह नहीं मिलेगा। तुम में अगर कमज़ोरियाँ हैं तो कमज़ोरियों के साथ ही लड़ो।

दुनिया की सबसे यादगार लड़ाइयाँ, दुनिया की सबसे प्रेरणास्पद लड़ाइयाँ वह थोड़े ही हैं जो तुमने बहुत अनुकूल स्थितियों में लड़ी हों कि जब तुम्हारा पक्ष बहुत मज़बूत हो, जब तुम्हारे पास बहुत अस्त्र और आयुद्ध हों, और फिर तुम लड़े और जीते। ऐसे लड़े और जीते तो कौन-सा कमाल कर दिया? कोई नहीं तुम्हें याद रखेगा।

दुनिया की सबसे प्रेरणास्पद लड़ाइयाँ कौन-सी हैं? जिसमें तुम्हारे हाथ काँप रहे थे, तुम्हारे पास हथियार भी कम थे, तुम्हारी तादात, तुम्हारी संख्या, तुम्हारा बल भी कम था। उसके बाद भी तुम लड़े, भले ही फिर हार गए। अब हार को कौन पूछता है? अब तो जो लड़ा, आदमी उसको पूजता है। लड़ना ही जीत है, भाई! यह इंतजार थोड़े ही किया जाता है कि हमारे पास इतना असलहा जमा हो जाए, इतनी फौज जमा हो जाए, हमारे भीतर की सब वृत्तियाँ-विकार मिट जाएँ, उसके बाद हम लड़ाई में शिरकत करेंगे। फिर तो तुम कर चुके! मैं अगर यह इंतजार करता रह जाऊँ कि मैं भी किसी विलक्षण पूर्णता को उपलब्ध हो जाऊँगा फिर तुमसे बात करना शुरू करूँगा तो मैं ता-उम्र इंतजार ही करता रह जाता।

....

(पंजाब, 2019)

✿ ✿ ✿ ✿